रूपान्तर की ओर

हमें बताया गया है, प्रभु कृपा से सब सरल हो जाता है। सुग्रीव के लिए अपना राज्य पाना कठिन था। श्रीराम की सहायता प्राप्त हुई तो सरल बन गया।

भीष्म, द्रोण, कर्ण के रहते महाभारत के युद्ध में विजय पाना युधिष्ठर के लिए असंभव था। श्रीकृष्ण का सहयोग मिला तो संभव हो गया।

अंतर्वेदना से संतप्त थे विवेकानन्द। दूभर था शांति पाना। ईश्वर के दर्शन की प्यास पीड़ित कर रही थी। रामकृष्ण का स्पर्श पाया तो सब सुखमय हो गया।

परम सत्य की खोज में दर-दर भटक रहे थे दयानन्द। स्वामी विरजानन्द मिले तो भटकन का अन्त हुआ। अंधकार से भरे हृदय में स्वर्णिम उषा का आगमन हुआ। ऋषि को पुनः वही अनादि वेद प्रदान किया गया जिसके प्रकाश में संसार स्थायी सुख-शांति लाभ कर सकता है। अज्ञान-रूपी निशा से बाहर आ सकता है। मधु मुस्कान के साथ जीवन मार्गों पर अग्रसर हो सकता है और प्राप्त कर सकता है जीवन का सर्वोच्च फल।

—सुखवीर आर्य

रूपान्तर की ओर

सुखवीर आर्य

श्रीअरविन्द चेतना धारा
पांडिचेरी
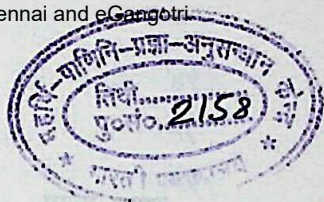
समर्पण

एक नई चेतना पृथ्वी पर अवतरित हुई है। हमारे शास्त्रों ने अपने गायन में इसे विज्ञानमयी अथवा ऋतम्भरा कहा है। श्रीअरविंद ने इसे अतिमानस नाम प्रदान किया है। मानव-चेतना में स्थायी उत्थान, उसमें आत्मा की ज्योति का अवतरण इसका अवश्यंभावी परिणाम होगा। मानव-हृदय में भागवत प्रेम प्रस्फुटित होगा। उसमें उच्च जीवन यापन करने की अभीप्सा उठेगी। जो आत्मा में सुप्त हैं वे जागेंगे, अचेतन हैं वे सचेतन बनेंगे। मानव-जीवन परम सत्य की खोज का क्षेत्र, उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप होगा।

नई चेतना की एक किरण मेरे हृदय में उदित हुई। मुझे जगाया। दिव्य उषा का स्वर्णिम प्रकाश मेरे जीवन-आंगन में छा गया। मेरे शीश के ऊपर स्थित दिव्य पुरुष मेरे ऊपर मुस्काया। हृदय का आवरण हटा। मैंने अपने आपको वहाँ स्थित पाया। अश्रुवों में डूबा, कृपा में भीगा मैं कुछ न बोल सका। सम्मुख उपस्थिति को सर्वस्व सौंप दिया।

अनुक्रम

आत्म-कथ्य

'रूपान्तर की ओर' मेरी साधना-यात्रा की तृतीय उपलब्धि है। मेरे चेतना-आंगन का तीसरा पुष्प। प्रथम था 'दिव्य जीवन की ओर,' द्वितीय था 'अतिमानस की ओर।' यह आंतरिक खोज का चित्रण, उसका रूपांकन है। जगत और जीवन को जैसा मैंने देखा, साधना में जो दृश्य मेरे सम्मुख खुले, वाणियाँ जो सुनायी दीं, वे सत्य, जिनमें मैं प्रतिक्षण निवास करता हूँ, दृष्टि, जो दिन-दिन अधिक उज्ज्वल-स्पष्ट हो रही है, नयी-नयी ऊँचाइयों को छू रही है, विशालता में प्रवेश पा रही है– वही सब संग्रह-सामग्री इन रचनाओं में उपादान बनी है।

देख रहा हूँ, मनुष्य निरर्थक कष्ट पाते हैं। व्यर्थ परेशान रहते हैं। वास्तव में उनकी परेशानी का कारण बाहर नहीं है, जैसा कि वे समझते हैं। कारण भीतर है, उनकी अपनी प्रकृति में है। अगर वे अपनी परेशानी के लिए दूसरों को, बाह्य घटनाओं को, परिस्थितियों को दोष न देकर उनका कारण अपने अंदर, अपनी प्रकृति में खोजें, तो स्थिति एकदम बदल जायेगी। उन्हें अपने अहंकार में, मन में, हृदय में ग्रंथियाँ नजर आयेंगी और जैसे ही वे उन्हें काट-छांट कर बाहर फेंक देंगे, उनके चारों ओर का वातावरण शांतिमय, सामंजस्यपूर्ण हो जायेगा। वे सुखी अनुभव करेंगे।

मानों उनके सिर पर एक बोझ था जो उन्होंने उतार फेंका और वे हल्के हो गये। उनके मन-चित्त-हृदय में प्रसन्नता का उदय होगा, जो जीवन-मार्गों पर बढ़ने के लिए परम आवश्यक है।

मनुष्यों की परेशानी का दूसरा कारण है– उनका आत्म-अज्ञान। वे अपने मौलिक सत्य से दूर हैं। आत्मा के एकत्व की चेतना से उनका कोई संबंध नहीं है। उनकी अहमात्मक सीमित चेतना उन्हें दूसरों से पृथक करती है। वे अपने आपको एक पृथक व्यक्ति के रूप में देखते हैं। इस पृथकता के कारण ही हमारे अंदर इच्छाएँ उठती हैं, लोभ जागता है और स्वार्थभाव जन्म लेता है। हम वस्तुओं को पाना और उन्हें भोगना चाहते हैं। किसी भी प्रकार से उन्हें आत्मसात् करना चाहते हैं। भोगों को भोगने की वृत्ति, सांसारिक वस्तुओं में आकर्षण, उन्हें प्राप्त करने की कामनाएँ, हमारी चेतना को, जीवन-धारा को बहिर्मुखी कर देते हैं। बहिर्मुखता हमें हृदय-केन्द्र से, आत्म-सत्य से, सच्चे स्वरूप से दूर ले जाती है। जहाँ हम तब तक भटकते हैं जब तक हमारे अंदर एक नयी चेतना का उदय नहीं होता, अपनी समग्र सत्ता के विषय में सचेतन बनने की भावना जन्म नहीं लेती, जीवन के सत्य को, उसके मूल को पाने के लिए अभीप्सा की अग्नि प्रज्वलित नहीं होती, हम उसकी प्राप्ति हित सर्वस्व की आहुति देने को तत्पर नहीं होते।

एक दिन मैं गहन चिन्तन में डूबा हुआ था। मैंने मानव-जीवन का गंभीरतापूर्वक अवलोकन जारी रखा। एक आंतरिक प्रकाश मेरा पथ-प्रदर्शक था। "अंधकार से भरे भवन में खड़ा व्यक्ति दृष्टिहीन तो रहेगा ही ! देखने के लिए उसे भवन से बाहर, प्रकाश में आना होगा। अथवा भवन को प्रकाशमान करना होगा। अज्ञान है तो दुख भी रहेगा। अज्ञान में कष्ट पाना उतना ही स्वाभाविक है जितना कांटों में चलने से। मनुष्य को अपना मार्ग बदलना होगा और यह संभव है चेतना के परिवर्तन से ; आत्मा की दिक् उद्घाटित होने से। मनुष्यों को अभीप्सा करनी होगी, जीवन का नया स्तर खोजना होगा। उस दिव्य पुरुष की शरण लेनी होगी, जो सदा उनका सहायक है। सृष्टि का पालक है, इसका रक्षक है।"

मैं चिन्तन से बाहर आया। मेरा हृदय आश्वस्त था। मैं निश्चयपूर्वक कुछ कह सकता था। विचारों में स्पष्टता थी। मेरे चित्त में अभी भी उस चेतना की स्मृति थी, जिसमें उठ कर मनुष्य जीवन मार्गों पर मुस्कान के साथ आगे बढ़ते हैं। 'जिनकी श्रद्धा अचल, अटूट, अडिग है, उनकी सहायता अवश्य होती है। सच्चे अभीप्सु के हृदय में भगवान अपना आसन बिछा लेते हैं। वे उसके मन से सोचते और उसकी दृष्टि से देखते हैं। उसके द्वारा संसार में अपना कार्य करते हैं।' वाग्धारा का प्रवाह जारी था। 'तब असंभव क्या ?'

(२)

मनुष्यों की दयनीय दशा पर मैंने आँसू बहाये। प्रभु-द्वार खटखटाया। पुकारें कीं, प्रार्थनाओं में अंतर को उँडेला। सब प्रकार की शर्तें पूरी करने को, सब प्रकार का मूल्य चुकाने को, वचनबद्ध हुआ। वर्ष बीतते गये। समय आगे बढ़ता गया। मेरी प्रार्थना जारी रही। भीतर पुकार तीव्रतर होती गई।

मैंने अनुभव किया कि एक विशेष प्रकार की चेतना में, विशेष मानसिक स्थिति में, विशेष आंतरिक भाव में, यह सब घटित होता है। चैतन्य-घन से प्रेरणा की बूंदें बरसती हैं, सिन्धु से लहरें-सी उठती हैं। आत्मा कुछ बोलती है। भीतर कोई गुनगुनाता है। धीरे-धीरे शब्दों का रूप वाक्य लेने लगे। प्रेरणा और अंतर्श्रवण का भेद मिटने लगा। साथ ही उन्हें लिखने की प्रेरणा ! अगर न लिखूँ तो अपराध-की-सी भावना, बेचैनी, घुटन-सी। लगे कहीं कुछ अनुचित हो रहा है, और आश्चर्य ! कभी-कभी महीनों एक शब्द भी नहीं। मैंने उन्हें अंकित करना प्रारंभ किया। समय आया और मुझे तथ्य के विषय में अवगत कराया गया– यह सब मेरी प्रार्थना के प्रत्युत्तर में प्रदान किया जा रहा था। यह मेरा चिन्तन है, मनन है, एकाग्रता का परिणाम है। ऊर्ध्व चेतनाओं में विचरण, गहराइयों में गमन, मानव-जीवन-दर्पण का अवलोकन है।

(३)

इन निबंधों को लिखने का ढंग निराला है। कारण, ये सब निबंध किसी लेखक के द्वारा, अथवा उस व्यक्ति के द्वारा नहीं लिखे गये हैं जिसमें लिखने की योग्यता हो; वस्तुतः ये प्रेरणाएँ हैं, जो जीवन के सामान्य काज-कर्म के क्रम में मुझे पकड़ लेती थीं और शब्दों में रूपायित करने के लिए प्रेरित करती थीं, कभी-कभी दबाव भी डालती थीं। मैं इन्हें अपनी चिंतन-धारा में एक दृष्टिकोण के रूप में पाता था जो मुझे जगत और जीवन में उस रूप-विशेष को दर्शाता था, जिसकी अभिव्यक्ति ये शब्द हैं। यह मेरा चिन्तन और मनन है। चिन्तन-मनन करते हुए चेतना के जिस स्तर पर मैं पहुँचा हूँ, यह उसी का शब्द-चित्रांकन है। श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजी की शिक्षा में अवगाहन का फल है। उनकी शिक्षा-निधि में से प्राप्त शब्द-रत्न हैं।

इन प्रेरणाओं को अंकित करने का मेरा अभिप्राय केवल इतना ही था कि जो आत्म-सत्य में नहीं जागे हैं, वे जागें। जिनमें अभीप्सा नहीं है, उनमें उत्पन्न हो। जिनकी आत्मा पर पर्दा छा गया है, वह हटे। व्यक्ति आत्मा को खोजे, उसमें निवास करे, जीवन-पथ पर उसके इंगित से चले। जीवन के रहस्यों को जाने, अपनी मूल सत्ता के सत्य को पहचाने, जीवन-स्वामी से उसका परिचय हो और वह उनको समर्पित हो कर जीवन-यापन करे।

वह स्वर्णिम दिवस संसार शीघ्र ही देखेगा जब मानव मात्र जागेगा। आत्म-विकास के पथ पर बढ़ेगा। सामान्य स्तर से ऊपर उठेगा। उच्च चेतनाओं में विचरण करेगा। दिव्य जीवन में निवास को अपने लक्ष्य के रूप में चुनेगा। प्रभु को समग्र सत्ता का समर्पण उसका पथ होगा। अज्ञान का आवरण गिरेगा और सब ज्योतिर्मय हो उठेगा।

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजी की शिक्षा में प्रदर्शित, उनके द्वारा निर्धारित लक्ष्य ही इस संग्रह में परिलक्षित हुआ है। उसी ओर चलने तथा साथ ही दूसरों को प्रेरित करने के प्रयास को ही पुस्तक-रूप प्रदान किया है।

अध्यात्म मार्ग की शर्तों, विधि-विधानों, आनेवाली बाधाओं के विषय में भी अवगत कराने का प्रयास किया गया है। आगे जैसी जिसकी इच्छा। कर्म करने में सब स्वतंत्र हैं। चुनाव सबका अपना-अपना है।

सुखवीर आर्य
श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

१५.८.२०००

ॐ

भागवत संकल्प

हे प्रभो ! तेरा संकल्प सर्व विजयी है। वह तेरी सत्ता के सत्य के विधान के रूप में कार्य करता है। सारा विश्व उसी की अभिव्यक्ति है। सब वस्तुओं और घटनाओं के रूप में वही अपने आपको चरितार्थ कर रहा है। यहाँ जो भी घटित होता है या हो रहा है, या होगा, उस सबके पीछे तेरी प्रेरणा, तेरी शक्ति, तेरी करुणा के रूप में वही है। हम आज ऐसी परिस्थिति में हैं जो हमें सुखकर प्रतीत हो रही है। यह इसलिए क्योंकि यह तेरी इच्छा है। तूने यही हमारे लिए श्रेयस्कर समझा है। कल हम अपने आपको विपरीत स्थिति में पाते हैं, जो कष्टकर अनुभव होती है, वह इसलिए क्योंकि उसमें हमारा मंगल है। उसी में तूने हमारी आत्मा का कल्याण समझा है। तेरा संकल्प, तेरा दिव्य विधान सदैव मंगलकारी होता है। सारी सृष्टि में, इसके पीछ वही कार्यरत है। दूसरी कोई शक्ति या इच्छा, दैवी या आसुरी, स्वतंत्र रूप से कार्य करने में समर्थ नहीं है। सब को तेरे संकल्प के, तेरी इच्छा के यंत्र के रूप में कार्य करना होता है। इस अनुभव में उठकर कहा जा सकता है कि मानव जीवन की सार्थकता केवल उतनी ही है, जितना वह तेरे संकल्प के साथ तादात्म्य रखता है, उसके साथ समस्वर है, उसके प्रति समर्पित है।

अंतस्थ सत्ता

मनुष्य के अंदर उसकी सत्ता की गहराई में एक दिव्य पुरुष है जो चेतन है, आनंदमय है, सर्वशक्तिमान है। अगर हम उसके साथ संबंध स्थापित कर सकें, उसकी चेतना का, शक्ति का प्रवाह अपनी सत्ता में, अपने जीवन में संभव बना सकें तो हमारे लिए कुछ भी असंभव नहीं रहता। हमारा जीवन प्रकाश से भरपूर हो उठता है। यह दिव्य पुरुष स्वभाव से कृपालु है, इसकी कृपा सदैव असीम है। हमारी प्रार्थनाएँ, जब वे सत्ता की गहराई से उठती हैं, इसके पास सीधी पहुँचती हैं। यह हमारी पुकार सुनता है। इसकी सहायता हमें प्राप्त होती है। यह रक्षक के रूप में जीवन मार्गों पर हमारे साथ-साथ चलता है, हमारा पथ प्रशस्त करता है, उस पर हमारे पग संवारता है। यह वही है जिसके विषय में शास्त्र कहते हैं कि जब इसकी कृपा दृष्टि की छाया में मनुष्य का जीवन प्रवाहित होता है तब हमारी नियति परिवर्तित हो जाती है, भाग्य लिपि पुनः स्वर्णिम अक्षरों में लिखी जाती है। वहाँ सब मंगलमय ही घटित होता है। हम प्रकाश से एक उच्चतर प्रकाश की ओर आरोहण करते हैं। हमारी सत्ता में, जीवन में दिव्यता का द्वार खुलना संभावित हो जाता है। जगत के पीछे एक दिव्य शक्ति है जो चेतन है, इसे अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जा रही है। वह इसी पुरुष की है।

जागृति

हम सांसारिक व्यापारों में ईश्वर को न भूलें। हमारे हृदय में सब समय उस परम पिता का, सृष्टिकर्ता का स्मरण रहना चाहिये। जीवन के काज-कर्मों में, घटनाओं की व्यस्तताओं में उसका चिंतन जारी रहना चाहिये। आत्म-दर्शन की प्यास, आत्म-साक्षात्कार के लिए अभीप्सा का होना जीवन का सत्य है, कर्मों में कर्म है, एक ऐसी उपलब्धि है जिसकी प्राप्ति में आत्मा आनंद अनुभव करती है। उसे संतुष्टि मिलती है। इस समय हमारे और हमारी आत्मा के बीच पर्दा है जो अशुद्धियों से निर्मित है। जो व्यक्ति इस पर्दे को हटाना अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में चुनते हैं वे बुद्धिमानों में शिरोमणि हैं। इस पर्दे के हटते ही हमें अपने सच्चे स्वरूप का बोध होता है। अपने सच्चे स्वरूप से जब हमारा तादात्म्य होता है, हमारी अंतर्दृष्टि खुलती है, हम हर वस्तु में, हर प्राणी में प्रभु-दर्शन करते हैं। हर घटना में उसी के संकल्प को देखते हैं। हर पुष्प को उसकी दिव्य सुरभि से सुरभित पाते हैं। जग-जीवन को उसके स्पंदनों से स्पंदित अनुभव करते हैं। सुख-दुख में उसके अलौकिक स्पर्श से, प्राणियों में उसके दिव्य प्रेम से, हर शुभ अथवा अशुभ क्षण में, अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्थिति में उसकी मधुमय मुस्कान से अपने आपको घिरा पाते हैं।

त्यक्तेन भुंजीथा

हे मानव ! शास्त्र-वाचा का श्रवण कर। उस पर ध्यान दे। तेरा मंगल होगा। भीतर तेरी आत्मा प्रसन्नता अनुभव करेगी। देख ! तेरे चारों ओर ये सब वस्तुएँ किसी की हैं। इनका कोई स्वामी है। इनकी ओर देखते समय सचेतन होकर देख ! इन्हें स्पर्श करने के लिए अनुमति अनिवार्य है। अनुमति प्राप्त कर। इनके भक्षण और भोग का विधान भी भिन्न है। इनके स्वामी को अर्पित करके ही इनका भोग करना होता है। उसे अर्पित करने के पश्चात् ही, उसकी अनुमति से, उसके आशीर्वाद के साथ, उसी के लिए, तू इन्हें भोगने का अधिकारी होगा। तू जो अब है, वही रहते हुए, अर्थात् एक अहंमय चेतना में, अज्ञानजनित पृथकत्व की चेतना में निवास करते हुए इन्हें भोगने का अधिकारी नहीं है। घास-फूंस अग्नि को नहीं भोग सकता, जल जाता है। घास-फूंस अग्नि को अधिक से अधिक कुछ क्षण के लिए निगलता-सा प्रतीत हो सकता है। लगता है उसने अग्नि को भक्षण कर लिया लेकिन निगलने का अर्थ भक्षण नहीं है। वह अग्नि को पचा नहीं सकता, अतः नष्ट हो जाता है।

एक दिव्य पुरुष है, वह चेतन है, सर्वशक्तिमान है। उसकी अपनी सर्वव्यापक अनंत चेतना है। वह पुरुष अपनी चेतना शक्ति के साथ हर वस्तु, हर प्राणी में विराजमान है। ये सब प्राणी, ये

सब वस्तुएँ उसके अपने रूप हैं, उसकी अपनी अभिव्यक्तियाँ हैं। वह स्वयं अरूप है लेकिन इस सृष्टि में रूप ग्रहण करता है। सृष्टि रूप में वही है। इन रूपों का कारण, इनका मूल सत्य वही है। इसमें उसे एक अद्भुत सुख की अनुभूति होती है। वह आनंदमय है और उसका हर कर्म आनंद से भरपूर होता है। वह जो भी करता है, सब अपने आनंद के लिए करता है। उसे इस आनंद की क्या आवश्यकता है ? यह प्रश्न कौन करे ? कोई अन्य हो तो करे। सृष्टि में किसी अन्य पदार्थ का, अन्य प्राणी का, अन्य सत्ता का अस्तित्व नहीं है। होना संभव भी नहीं है। सब उसी एक का अपने अंदर अपना विस्तार है। सब रूपों में वही है। वही, जिसे शास्त्र एक, अखंड, अद्वितीय पुरुष कहते हैं।

हमें ऐसा कहने में आंतरिक प्रसन्नता होती है कि वह सृष्टिकर्त्ता एक ऐसा खिलाड़ी है जो अकेला ही खेलता है। खेल में जो वस्तुएँ, शक्तियाँ, तत्व, प्राणी आवश्यक हों, वे सब रूप वह स्वयं ग्रहण करता है, जैसा चाहे, जो चाहे खेलता है।

अगर हम शास्त्र-अध्ययन करते हैं तो उससे हमें कर्तव्य के प्रति प्रेरणा प्राप्त होती है, जीवन में उत्थान, स्वभाव में परिवर्तन तथा चेतना की गति ऊर्ध्वमुखी होती है। हमारे अंदर यह प्रवृत्ति स्थायी रूप ग्रहण कर लेती है कि जीवन वही है जो अंतस्थ देव को समर्पित हो, अंतः प्रेरणा से चालित हो।

प्रार्थना-पुकार

भगवान अंतर्यामी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वव्यापक हैं फिर भी जो प्रार्थना सच्ची नहीं, जिस पुकार में आंतरिक तड़पन नहीं, व्याकुलता नहीं, वह उन तक नहीं पहुँचती। श्रीमाताजी कहती हैं 'हर सच्ची प्रार्थना प्रभु सुनते हैं, हर सच्ची पुकार का उत्तर देते हैं।' हम देखते हैं कि हमारी सभी प्रार्थनाएँ, पुकारें नहीं सुनी जातीं, उनका उत्तर हमें नहीं मिलता। इसका अर्थ है कि वे सच्ची नहीं होतीं। प्रार्थना में सच्चाई या पुकार में गहराई का अर्थ ठीक वही नहीं होता जो हम समझते हैं। वे प्रभु के विधान के अनुसार सच्ची, तीव्र और गहन होनी चाहियें। भगवान कभी किसी व्यक्ति का त्याग नहीं करते, उसको भूलते नहीं। वे कभी दण्ड नहीं देते। किन्तु कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। यह सृष्टि का विधान है। इस विधान को, इसके व्यावहारिक रूप को मनुष्य नहीं जान पाते। मानव-चेतना से इसे गोपित रखा गया है। भगवान का प्रेम सब पर समान रूप से बरसता है। वे कृपालु हैं। किन्तु उनकी कृपा, विश्वव्यापी न्यायकारी शक्ति को दृष्टिहीन नहीं करती, वह न्याय को मंगलमय बनाती है।

———

जिनमें आत्मिक भाव सुस्थिर हो गया है उनके लिए ही हैं दिव्य आभाएँ, अमृत के सिंधु, आनन्द के अक्षय भंडार।

सृष्टि स्वरूप

हमें चाहिये कि जगत के प्रति अपना दृष्टिकोण परिवर्तित करें। वर्तमान अज्ञानजनित दृष्टिकोण पीछे छोड़ें, आत्म-चेतना पर, आध्यात्मिक दृष्टि पर आधारित एक नया दृष्टिकोण अपनायें अर्थात् वह दृष्टिकोण जो आत्म-सत्य से ओत-प्रोत हो, आत्म-दृष्टि से परिपूर्ण हो, आत्म-प्रेम से भरपूर हो, आत्म-एकत्व पर निर्भर हो। नये दृष्टिकोण से देखने से यह जगत आत्मा की अभिव्यक्ति दिखायी देता है, इसके कण-कण में भगवान दृष्टिगोचर होते हैं। यह जड़ वस्तुओं से निर्मित प्रतीत नहीं होता। इसकी उत्पत्ति के कारण पंचभूत नहीं हैं। पंचभूत अपने आपमें दिव्य चेतना की भौतिक अभिव्यक्ति हैं। इनसे निर्मित ये आकार भी पूर्णतः जड़ नहीं हैं। इनमें जीवन तथा चेतना व्याप्त है। ये चेतन के मुखौटे हैं, जो प्रभु ने लीला के लिए, इस लीला में अपने आपको छिपाने के लिए ओढ़े हैं। हमें ये जड़ भासित होते हैं किन्तु हैं नहीं। यह केवल एक प्रतीति है, यथार्थता नहीं। इनमें एक आत्मा है जो अभी दूर गहराई में स्थित है, उत्तल पर नहीं आयी। अतः पदार्थ के जीवन में हस्तक्षेप करने में समर्थ नहीं है। शास्त्रों के अनुसार, इस समय वह सुप्तावस्था में है और एक दिन, अपने निश्चित समय पर, अंतर्यामी की प्रेरणा से अवश्य जागेगी। वास्तव में

सृष्टि में कुछ भी जड़ नहीं है। सब चेतन है, चेतन का स्वरूप है। चेतन के द्वारा, अपनी इच्छा से ग्रहण किया हुआ, उसका रूप है; जो उसने, जैसा उसे पसंद था, जैसा उचित समझा, ग्रहण किया।

अगर हम जगत को मिथ्या, माया न मान कर इसे परमात्मा की अभिव्यक्ति मानें और एक अतिमानसिक चेतना-स्तर पर स्थित होकर इसका अवलोकन करें तो जगत हमें ब्रह्म रूप दिखायी देता है, इसके कण-कण में भगवान के दर्शन होते हैं। हम कह सकते हैं कि सृष्टि में हर पदार्थ हमसे बोल सकता है, उसमें स्थित चेतना, अगर वह चाहे हमारे भावों का प्रत्युत्तर दे सकती है, अपनी इच्छा हमें शब्दों में, हमारी भाषा में, प्रतीकों में हमारे लिए व्यक्त कर सकती है।

अगर हम शास्त्रों की वाणी की ओर मुड़ें तो देखेंगे कि जीवन के जिस स्तर पर हमारा निवास है वह एक अज्ञान तथा अंधकारपूर्ण स्थिति है। विश्व-प्रकृति की शक्तियाँ ही उसमें शासक तथा प्रेरक हैं। स्वार्थपूर्ण वृत्तियाँ हमें जीवन मार्गों पर ठेल रही हैं, उनसे हम अधिकृत हैं। अहंकार के शासन से हम ग्रसित हैं। इंद्रियों की दासता से हम रौंदे जा रहे हैं । षट्रिपुओं के जाल में हम संतप्त हैं। हमारा वर्तमान मानसिक चेतना-स्तर ठीक वही वस्तु नहीं है जो हमारी समस्या का समाधान प्रदान कर सके। हमें इससे ऊपर उठा सके, मुक्ति

प्रदान करा सके। इस स्तर पर निवास करते हुए हम मनुष्य स्वभाव को अतिक्रम नहीं कर सकते, आत्मा की मुक्त चेतना में नहीं उठ सकते। हमें अपनी मानसिक स्थिति में सुधार करना होगा, इसमें उत्थान लाना होगा। इसे आत्म-चेतना की सीधी अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करना होगा। यह तभी संभव है यदि हम पूर्ण रूप से दिव्य चेतना में, अतिमानसिकता में उठ सकें, उसे अपने जीवन का अंग बना सकें।

हमारी मान्यता है कि इस सृष्टि का सर्वोच्च सार भगवान हैं। अंतिम तत्व, इसका मूल, इसका उद्‌गम भगवान हैं और उन्हीं की प्राप्ति इसका गन्तव्य है। यह सृष्टि उनकी आत्म-अभिव्यक्ति है, अर्थात् यहाँ जो भी है सब उन्हीं की रचना है, उनका अपना ग्रहण किया हुआ रूप है। भगवान अनंत है, अनंततया अनंत हैं। अतः उनकी अभिव्यक्ति भी अनंततया अनंत है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कुछ चीजें हैं, कुछ तत्व और शक्तियाँ हैं जो अवांछनीय हैं। हमें वे पसंद नहीं हैं और हम अनुमान लगा सकते हैं कि वे सब चीजें भगवान को भी पसंद नहीं हैं। तभी तो वे आत्म-ज्ञानियों के द्वारा, महापुरुषों के द्वारा अथवा स्वयं मानव-रूप में अपनी सीधी अभिव्यक्ति के द्वारा उनका संशोधन करते देखे जाते हैं।

हमने कहा, यहाँ सब भगवान है। यह सृष्टि भगवान की आत्म-अभिव्यक्ति, उनका स्वरूप, उनके द्वारा लिया

हुआ आकार है, लेकिन हम यह तथ्य सुस्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अपने आपमें यह एक विकासोन्मुखी चेतना का सतत प्रवाह है। यहाँ सब एक क्रम में विकसित हो रहा है। सृष्टि अपने निर्माण-कार्य में है, वस्तुओं ने अपना सही अंतिम रूप ग्रहण नहीं किया है। यही कारण है कि कुछ चीजें काली, कुत्सित, गंदी, बीभत्स दिखायी दे रही हैं। किन्तु हमें महापुरुषों के वचनों में पूर्ण श्रद्धा है। उनका अनुभवसिद्ध कथन है कि शीघ्र ही सृष्टि-निर्माण-कार्य का प्रथम अध्याय पूर्ण होगा और वस्तुएँ अपना सही, शुद्ध स्वरूप ग्रहण करेंगी।

यह सृष्टि अंधकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, अदिव्यता से दिव्यता की ओर, कुरूपता से सौंदर्य की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, अपूर्णता से पूर्णता की ओर एक क्रमिक रूप में अग्रसर हो रही है।

———

सृष्टि-रचना में मनुष्य एक महान कृति है। सर्वोच्च संभावना का बीज उसके अंदर निहित है। अनंत क्षमताओं का अक्षय भंडार धारण किये भगवान उसके हृदय में विराजमान हैं। जिस दिन उसका हृदय आवरणहीन हो जाता है, वह आत्म-सचेतनता में प्रवेश पा जाता है। उसका हर कर्म, हर विचार सृष्टि-विधान के अनुरूप हो जाता है।

चरम उपलब्धि

अगर तू आत्म-साक्षात्कार का अभिलाषी है तो इस शास्त्र-वाचा पर गहराई के साथ चिन्तन कर। एक ओर दिव्य प्रेम और दूसरी ओर भोगों की चाह उस हृदय में साथ साथ निवास नहीं कर सकते, जो प्रभु को समर्पित है। अति पवित्र पात्र ही अमृत धारण करने के योग्य होता है। जब तक हमारा निवास अहंकार में है, हृदय में कामनाएँ हैं, क्रोध को हमने त्यागा नहीं, स्वार्थ वृत्ति को जय नहीं किया, हमारी व्यक्तिगत चेतना ने विशालता के सुख को नहीं चखा, तब तक आत्म-दर्शन को ख्याली पुलाव ही समझें। जब हम आत्मा के चिन्तन में इतना डूब जायें कि बाह्य व्यक्तित्व के स्थान पर हमारी चेतना आंतरिक व्यक्तित्व में निवास करने लगे, वही हमारी चेतना का केन्द्र हो जाये, किसी भी कामना की तृप्ति में मन बाहर न भटके, सारी वृत्तियाँ, निम्न तथा उच्च, अंतर्मुखता का भाव अपना लें, आत्मा की संतुष्टि ही जीवन का स्वरूप हो जाये, व्यसन-वासना, भोगों में स्पृहा जब चुभन पैदा करने लगे, तब हमें आत्म-दर्शन प्राप्त होता है। आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करना ही आत्म-दर्शन है। जीवन-मुक्ति की ओर सृष्टि में जीव का प्रथम चरण है। आत्मा की दिव्यता में अपने यंत्रों को रूपांतरित करना, श्रीअरविन्द के अनुसार चरम परिणति है।

जीना सीखें

जी सभी रहे हैं। लेकिन जीवन जीना कम ही जानते हैं। पृथ्वी पर मानव-जीवन एक कला है। कला का ज्ञान कलाकार को ही होता है। यह कलाकार हमारा जीवन-स्वामी है, जो हमारे हृदय में निवास करता है। जीवन-कला को सीखने के लिए हमें उसकी शरण ग्रहण करनी होती है। यह सृष्टि अपने आपमें एक अद्‌भुत, एक रहस्यमयी कला है। कारण यहाँ कलाकार कला की रचना करके उसमें छिप गया है। वह हर वस्तु में विद्यमान है। यह एक असंभव घटना है। किन्तु उस सर्व आश्चर्यमय दिव्य सत्ता के लिए, सब आश्चर्यों के मूल के लिए, सब संभावनाओं के उद्‌गम के लिए यह एक सामान्य-सी घटना है। यहाँ पदार्थों की अंतर्सत्ता, उनकी आत्मा, उनका बाह्य व्यक्तित्व, उनके रूप सब वही है। वह अंतःस्थित कलाकार अहं की भाषा में, गोपन रूप में बोलता है कि यह अमुक नाम रूप धारी प्राणी मैं हूँ और वह हमारे साथ, और वास्तव में अपने ही साथ – क्योंकि उसके सिवाय यहाँ या वहाँ अन्य कोई नहीं है – आंखमिचौनी खेलता है। आँखमिचौनी का यह खेल तब तक चलता है जब तक हम खेल के उस रहस्य को भली-भांति नहीं समझ पाते जिसके द्वारा वह कलाकार पदार्थों में छिपा है और उस रहस्य को उद्‌घाटित कर इस अनुभूति पर

नहीं पहुँचते कि वह कलाकार अन्य कोई नहीं, प्राणी मात्र का प्यारा, उनका रक्षक परमात्मा है। वही हमारी सत्ता और जगत सत्ता का मूलभूत सत्य है। हमारे हृदय में स्थित हमारा जीवन-स्वामी है। इस रहस्य को जिसने पा लिया, इस स्वर्णिम कुंजी को जिसने हस्तगत कर लिया वह कलाकार की कृपा का पात्र बन जाता है। उसके अंतर्लोचन खुल जाते हैं। वह हर वस्तु में, प्राणी में स्थित उस एक, अखंड, आनंदमय पुरुष के दर्शन करता है। सृष्ट वस्तुओं में यही उसके आकर्षण का केन्द्र होता है। यह परम पुरुष नित्य है, पूर्ण है, निरपेक्ष है। सृष्टि के होने न होने से इसके अस्तित्व में कोई अंतर नहीं आता। इस स्वर्णिम कुंजी को पाने के लिए, इस गोपनीय रहस्य को जानने के लिए हमारे शास्त्रों में बहुत से मार्ग बताये हैं। सब को अपनी-अपनी प्रकृति तथा क्षमता के अनुरूप कोई एक चुन लेना चाहिये। यहाँ भी हम एक मार्ग प्रदर्शित कर रहे हैं, जो सर्व सुलभ है, सहज है, शीघ्र फल देने वाला है।

प्रभु-शरण ग्रहण करें। विनयी बनें, सरल रहें। उनके इंगित को, उनके आदेश को ठीक-ठीक समझने की कोशिश करें। अधिक से अधिक सच्चाई के साथ उसका पालन करें। उनके संकल्प को जानें। उसके प्रति समर्पित रहें। उसकी चरितार्थता ही हमारा जीवन हो। हमारी ओर से आत्मोद्घाटन की स्थिति, ग्रहणशीलता, मन, वाणी और कर्म में सत्यता, भागवत-शक्ति

की क्रिया में– जो कि हमें रूपान्तरित करना चाहती है– सहायक गुण हैं। शास्त्र की इस वाणी में हमारा विश्वास दृढ़ हो कि परमेश्वर की सहायता उन सब को प्राप्त होती है, प्रभु उन सब का बोझ अपने ऊपर लेते हैं, जो सच्चाई के साथ उनकी सहायता के लिए पुकार करते हैं। भगवान अपनी शक्ति, ज्ञान, तेज और आनन्द उन सब को प्रदान करते हैं जो पूर्णतः उनके हो जाते हैं। पथ उन्हीं का निर्विघ्न है, जीवन उन्हीं का सफल है, आत्म-पूर्णता के शिखर पर वे ही पहुँचते हैं, जिन्होंने महान से महान शर्त्तों को पूरा किया और भागवत संकल्प के साथ तादात्म्य स्थायी बनाया। इस संकल्प की चरितार्थता ही जिनके जीवन का स्वरूप है, जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्म है। जिन्होंने स्वधर्म के स्थान पर इसी कर्तव्य को चुना, इसके लिए अपने सब सुखों का बलिदान किया।

युग पर युग बीते, आखिर आज ऊर्ध्वारोहण का पथ मानव के सम्मुख खुला है। एक भागीरथ प्रयास के पश्चात् दिव्य संभावनाओं से परिपूर्ण एक नया जगत, अतिमानसिक जगत, हमारे द्वार पर है, हमारी पहुँच के अंदर है। हे मानव, अपने द्वार खोल और ग्रहण कर।

भिन्न दृष्टिकोण

आत्मा में सचेतन होते ही हमारी समझ में यह बात भली प्रकार आ जाती है कि संसार में कोई भी प्राणी, कोई पदार्थ, कोई तत्व स्वतंत्र नहीं है। सबके पीछे, सबके भीतर एक अंतर्वेग के रूप में एक दिव्य संकल्प क्रियारत है। उसी से वे गतिमान हैं। हमारे विकास की वर्तमान स्थिति के अनुसार, हमारे अंतरात्मा के इस जन्म के लक्ष्य के अनुरूप हमारे लिए परिस्थिति व्यवस्थित की जाती है। निस्संदेह हमारे जीवन-मागों पर कहीं-कहीं हमारे कर्मफल का साया अवश्य दिखायी देता है। जो निर्बाध गति से अग्रसर होती हुई हमारी जीवन-नौका को डगमगा देता है। सृष्टि में कोई भूल नहीं होती। हो भी कैसे, जब सब कुछ एक अखंड दिव्य पुरुष की, सर्वज्ञ शक्ति की रचना है। विश्व वृक्ष का मूल वही है, इसकी शाखा, इसके पत्ते, फल-फूल सब वही है। इसीलिए हमारे शास्त्रों में इस बात को बार-बार दुहराया गया है कि मनुष्य को चाहिये वह परम सत्य के विधान के प्रति पूर्ण समर्पित रहे, आत्मा के इंगित को पहचाने, उसी के आदेश-पालन को जीवन का स्वरूप प्रदान करे। भगवदर्पित बुद्धि के प्रकाश में जीवन-मार्गों पर बढ़ता चले। यही संसार में जीवन जीने की कला है, यही कर्तव्य है। यही जीवन की खोज का लक्ष्य है।

सृष्टि प्रभु की देह

हम मानते हैं कि यह सृष्टि भगवान की रचना, उनकी अपनी अभिव्यक्ति है। यह रचना उन्होंने अपनी लीला के लिए की है। वे दिव्यता को अदिव्यता में परिणत कर पुनः दिव्यता में रूपान्तरित करने के लिए एक विशाल कर्म का संयोजन कर रहे हैं। हम इसे एक नाटक भी कह सकते हैं। जिसमें वे ही रंगमंच हैं, कलाकार हैं, अभिनय की क्रिया हैं और दर्शक भी स्वयं वे ही हैं। वह परम सत् एक ही है जो सदैव था, है और रहेगा। हमें यह विश्वास लेकर चलना है कि प्रभु एक ऐसे खिलाड़ी हैं जो कभी खेल समाप्त करनेवाले नहीं है। स्थूल या सूक्ष्म इसका रूप रहता ही है और जब यह नाटक, यह लीला प्रभु कर रहे हैं, वे इसमें रस ले रहे हैं, तो यह भी विश्वास रखना चाहिये कि ज्यों-ज्यों यह आगे बढ़ता जायेगा, अगले दृश्य खुलेंगे, उतना ही अधिक आनंददायक होगा। इसके आनंद की वृद्धि के लिए प्रभु स्वयं प्रयत्नशील हैं। उनकी जो शक्ति इस जगत के निर्माण में, इसके उत्थान में संलग्न है वह इसमें अपनी चेतना, अपना आनंद, अपनी दिव्यता निरंतर उतार रही है। फलस्वरूप प्राणी अधिक सजग, आत्म-सचेतन, अपनी सत्ता में उद्‌घाटित हो रहे हैं। आत्म-सत्य में उठने की, उसे जीवन में चरितार्थ करने की अभीप्सा उनमें दिन-दिन बढ़ रही है।

तथैव कूर्यामहै

हम कहीं भी रहें, हमारा निवास प्रभु-चरणों में होना चाहिये। हम केवल वही सोचें-विचारें जिस ओर अंतस्थ आत्मा प्रेरित करता है। हर विचार आत्म-प्रगति की ओर जाना चाहिये। हम वही करें जो हमारे जीवन स्वामी चाहते हैं। उनका इंगित हो तो हमारे हाथ में शास्त्र हो, उनका इंगित हो तो शस्त्र। वे चाहते हों तो हम मंदिर की सफाई में डूबे रहें, उसकी सजावट में चार चाँद लगा दें, वे चाहें तो युद्धक्षेत्र में हमारे हाथों में तलवार देखें और हम कालरूप हो उठें। वे चाहें तो हम माला फेरें, भक्तिभाव से भरे हृदय में उनकी तेजोमय मूर्ति के सम्मुख बैठकर उनके जप में खो जायें और वे चाहें तो हम शासन की बागडोर संभालें। हमें व्यासदेव की लेखनी ग्रहण करने को कहा जाये या महादेव का त्रिशूल, दोनों को धारण करने में संमान रूप से समर्थ होना चाहिये। कैसी भी परिस्थिति हो, उनके आदेश-वचन सुनते ही हमारे मुख पर सदैव समान प्रसन्नता उभरनी चाहिये। हमें चाहिये कि व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ से ऊपर उठकर, हर कर्म इस भाव से करें मानों हम इसी के लिए जन्मे थे। हमारे जीवन का दूसरा कोई प्रयोजन ही न हो। मानों विश्व-यज्ञ में हमारा जीवन एक आहुति के लिए ही था।

समर्पित व्यक्तित्व में प्रभु सक्रिय रूप से निवास करते हैं।

जीवन— जो प्रतीक्षा में है

क्या हमने कभी सोचा है कि जब हम जीवन-धारा को अपने ढंग से, अपने इच्छित भोगों की दिशा में मोड़ते हैं, सांसारिक भोगों में आनंद लेते हैं, व्यसनों में डूब जाते हैं, इंद्रियों के सुख के लिए, उन्हें संतुष्ट करने के लिए, अपनी पूरी शक्ति, अपना पूरा समय लगा देते हैं, अपने बहुमूल्य जीवन को नष्ट करते हैं; तब हमारे अंदर हमारी आत्मा कष्ट पाती है।

क्या हमने कभी सोचा है कि इस प्रकार के इंद्रिय सुख-भोगों के बहुत से जन्म हम बिता चुके फिर भी हमें तृप्ति नहीं हुई। हम जागे नहीं। जो कामनाएँ विगत जन्मों में हमारे अंदर थीं, आज भी हैं। हर जन्म में अहंकार हमें चलाता है। हमारे द्वारा अपनी इच्छाएँ पूरी करता है। हम इसके दास रहते हैं। एक यंत्र की तरह इसकी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। इसकी इच्छाओं को अपनी इच्छा समझने की भूल करते हैं और इसे ही पूर्ण मानव-जीवन समझते हैं। भ्रांति से भरे इस प्रकार के सैकड़ों जन्म हम बिता चुके हैं और यह वर्तमान जीवन भी बीत रहा है। अभी भी हम सचेतन नहीं हुए, हमें सुबुद्धि नहीं आयी। हम अपने अंदर आत्मा में नहीं जागे। मन तथा इंद्रियों की मांगों को हम अपनी समझते हैं और इन्हें पूरी करने के लिए जीवन मार्गों पर दौड़ते हैं। यही हमारे जीवन का

स्वरूप है। जीवन में कुछ और भी किया जा सकता है, अहंकार, मन और इंद्रियों के परे भी कोई दिव्य पुरुष हमारे अंदर है, जो हमारा सच्चा स्वरूप है, इसका ज्ञान हमें नहीं है। हम पूर्णतः आत्म-अज्ञान में डूबे हैं। यह आत्म-अज्ञान ही हमारे सब दुखों का कारण है। दूसरी ओर, जीवन जो सब ऊँची उपलब्धियाँ हमें प्रदान कर सकता है, उससे वंचित रखता है। अगर हम जीवन में चेतना का एक ऊँचा स्तर प्राप्त करना चाहते हैं, संसार में भगवान का यंत्र बनकर मानवता की सेवा करना चाहते हैं तो हमें इस वर्तमान जीवन-स्तर से ऊपर उठना होगा। इसके स्थान पर एक उच्च, आध्यात्मिक जीवन, जो जीवन भागवत विधान के अनुसार हो, जिसमें आत्म-संकल्प ही सर्वोपरि हो, वही प्रेरक और चालक हो, यापित करना सीखना होगा। शास्त्रों के अनुसार वही सफल जीवन होता है जो अपने लिए नहीं, अपने सुख के लिए नहीं, मन और इंद्रियों की इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं, वरन् देश के लिए, मानवता के लिए, भगवान के लिए होता है। जिसमें केवल आत्मा का संकल्प चरितार्थ होता है।

जो जीवन आध्यात्मिक आदर्श को सामने रख कर यापित किया जाता है, वही सही अर्थ में मनुष्य का जीवन है। ऐसे जीवन में ही सुख-शांति, आत्म-विकास, जग-मंगल रूपी पुष्प खिलते, फल प्राप्त होते हैं।

भ्रांति से बाहर आयें

हमारी समस्या है कि हमें पृथकत्व की चेतना में रहने का अभ्यास पड़ गया है। व्यक्ति-चेतना में निवास को ही हम मनुष्य का स्वाभाविक स्तर समझने लगे हैं। यह भ्रांति है और हमें यथा शीघ्र इससे बाहर आना चाहिये। हमारी सत्ता का सत्य एक परात्पर सत्ता है। अगर हम चाहें उसमें अपना स्थायी निवास संभव बना सकते हैं।

जिन्होंने आत्मा की विशालता की झांकी पायी है, उन सब ने मनुष्य के वर्तमान चेतना-स्तर को, उसके जीवन को कारागार कहा है। वे मनुष्यों को समझाते थकते नहीं। उनका कथन है कि हे मानव ! अपने पूर्ण व्यक्तित्व के विषय में सचेतन बन। अपनी मानसिक चेतना का अतिक्रमण कर। आत्मा की विशालता में निवास ही तेरी सच्ची, स्वाभाविक स्थिति है। अहंकार को विजातीय वस्तु समझ। यह तेरी सत्ता का अंग नहीं है। मन, शरीर तथा इंद्रियाँ तुझे यंत्र के रूप में मिले हैं। इनकी इच्छाएँ तेरी इच्छाएँ नहीं हैं। इनके सुख-दुख तेरे लिए स्वाभाविक नहीं हैं। इनके आकर्षण, रस लेने के इनके स्थान तेरे लिए अत्यंत निम्न वस्तुएँ हैं। जहाँ तू तभी तक विचरण कर सकता है जब तक तूने अपना दिव्य स्वरूप नहीं देखा। उसमें निवास का

अनुभव प्राप्त नहीं किया। अगर एक बार भी तू अपने सच्चे स्वरूप को देख सके, उससे तेरा तादात्म्य संभव हो सके, उसमें निवास की उच्चता चख सके, उस विशालता के मुक्त पवन में श्वास ले सके तो तेरी सब धारणाएँ परिवर्तित हो जायेंगी। तू अपने आपको दिव्य रूप में, एक मुक्त पुरुष के रूप में देखेगा। प्रकृति की दासता के स्थान पर उसका स्वामी, जरा, मृत्यु, व्याधि आदि से ऊपर, इनकी पहुँच के बाहर अमर, अजन्मा शाश्वत पुरुष के रूप में अनुभव करेगा।

जब हम सोचते हैं कि हमें मनुष्य के सामान्य स्तर से ऊपर उठना चाहिये, आध्यात्मिक मार्ग को अपनाना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है; जब हमारे अंदर उच्च जीवन की अभीप्सा जाग उठे, हम आत्म-दर्शन के मार्ग को अपनाने का संकल्प लेने को उद्यत हों; तब ऐसी स्थिति में हमारे लिए लाभप्रद होगा कि हम पहले नैतिक तथा आचार-संबंधी शिक्षा को ग्रहण करें। आत्म-संयम का महत्व, पवित्रता का मूल्य समझें। बिना इंद्रिय-संयम के, बिना अहंकार से ऊपर उठे, स्वाभाविक दुर्बलताओं को जय किये, वृत्तियों को शुद्ध किये हम आत्मा के ऊपर पड़े पर्दे को हटाने में, उसकी ज्योति तथा चेतना के प्रकाश से जीवन को ज्योतिर्मय करने में, उसका स्तर आध्यात्मिक बनाने में सफल नहीं हो सकते।

भागवत हस्तक्षेप

जब हम देखते हैं कि एक बुद्ध संसार के दुख-कष्टों का निवारण करने के लिए, मानव मात्र को निर्वाण प्रदान करने के लिए सब कुछ का त्याग करता है, व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं की ओर से ध्यान हटाकर तपस्या का मार्ग चुनता है ; एक विवेकानन्द ईश्वर की प्राप्ति के लिए सर्वस्व की आहुति देने को, हर संभव बलिदान करने को तत्पर रहता है ; एक दयानन्द सत्य की खोज में पथ में आनेवाले विघ्न-बाधाओं को भूलकर, बिना सुख-दुख की गणना किये, एक अनजाने पथ पर, मानों एक दैवी विधान उसे ठेल रहा हो, घर से निकल पड़ता है ; तब इस सब के पीछे उसी दिव्य पुरुष का संकल्प होता है जो इस सृष्टि का मूल है, इसका उद्‌गम है। प्राणी मात्र का प्यारा, उनका सहायक है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यह दिव्य पुरुष हमारे जीवन में, हमारी चेतना में परिवर्तन देखना चाहता है और उसके लिए यह हमें भीतर से प्रेरित करता है। किन्तु मानव स्वभाव के अत्यधिक बहिर्मुखी होने के कारण, अपनी इच्छाओं की पूर्ति में अत्यधिक व्यस्तता के कारण, किसी वस्तु-विशेष में अत्यधिक अभिरुचि के कारण, उससे प्राप्त होने वाले रस में निमज्जता के कारण हम इसके इंगित को ठीक-ठीक पहचान नहीं पाते हैं। तब यह दिव्य पुरुष हमें जगाने के लिए जो कुछ उत्तम समझता है वह करता है।

यह आवश्यक नहीं कि वह हमें वांछनीय, सुखद प्रतीत होता हो। वह कष्टपूर्ण, आपदाओं से भरपूर हो सकता है, उसका स्वरूप एक दुर्घटना भी हो सकता है। इस सब को ठीक-ठीक समझना मानव बुद्धि के परे की वस्तु है। यहाँ हम इतना ही कहेंगे कि हमारे जीवन में हमारे साथ जो भी घटित होता है, उस सबके पीछे भगवान का हाथ होता है, हमारे अंतरात्मा की अनुमति होती है। अनुभव कहता है कि अपनी सीमित चेतना के द्वारा जिसे हम आज अपना दुर्भाग्य समझ रहे हैं, घटना-चक्र के अगले चरणों में वह स्पष्ट हो जाता है और हम देखते हैं कि जो घटित हुआ है, भले ही वह उस समय हमें अरुचिकर, कष्टप्रद प्रतीत हो रहा था, वास्तव में मंगलमय था, वह वही था जिसके द्वारा हम सीधे, कम से कम समय में, कम से कम पुरुषार्थ के द्वारा, अधिक से अधिक लाभान्वित हो सके हैं।

कितने असहाय, कितने दीन हम तब होते हैं जब हम घटनाओं को, उनमें छिपे अर्थ को, उनके पीछे भागवत संकल्प को, उनमें निहित दिव्य प्रयोजन को, सीमित मन-बुद्धि के द्वारा, अपने अहंकार को, स्वाभिमान को दृष्टि में रखते हुए– भौतिक सुख-दुख, हानि-लाभ, मान-अपमान की गणना करते हुए– उनके बाह्य रूप से समझने की कोशिश करते हैं।

भागवत यंत्र

इस संसार में, हमारे जीवन में जो भी घटित होता है सभी कुछ हमारे कर्मों का फल नहीं है। कर्मों के फल के परिणाम स्वरूप ही घटित नहीं होता है। अवश्य कर्मफल का भोग एक ध्रुव सत्य है और जब तक हम मानसिक चेतना की परिधि में निवास करते हैं, अपने अहंकार तथा शरीर, मन, इंद्रिय-रूपी यांत्रिक व्यक्तित्व के साथ एक रहते हैं और बाह्य सत्ता को ही अपना आप समझते हैं तब तक इससे मुक्त नहीं हो सकते। कर्म फल के जुए को अपने कंधों पर लिये हमें जीवन मार्गों पर चलना होता है। हम इसके बोझ को उतार नहीं सकते। जो मनुष्य अपने व्यक्तित्व की परिधि से बाहर आ जाते हैं, व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण कर जाते हैं, जिनका जन्म तथा जीवन संसार के लिए होता है वे अगर दुख भोगते हैं, आपदाओं में से गुजरते हैं, संकटों का सामना करते हैं, भयंकर यंत्रणाओं का– यहाँ तक कि मृत्यु का भी– वरण करते हैं तो वह उनके कर्मों का फल नहीं होता। उनके अंदर उनकी आत्मा एक चुनौती के रूप में वह सब स्वीकार करती है और विकट से विकट परिस्थितियों का भी कर्तव्य के रूप में सहर्ष आलिंगन करती है। सूरदास की नेत्रहीनता, सीता का वनवास, महर्षि दयानंद की अकाल-मृत्यु, सिक्खों के गुरुओं की भीषण

यंत्रणाएँ, ईसा का क्रूस, मन्सूर की सूली, रामकृष्ण का कैंसर आदि सैकड़ों उदाहरण इतिहास में अंकित हैं, जिनका वरण मानव-आत्मा ने स्वयं किया था। वे कर्मफल नहीं थे। उनके ऊपर थोपी हुई परिस्थितियाँ नहीं थीं। इनके पीछे मानव आत्मा का, हमारे चैत्य पुरुष का चुनाव होता है।

महापुरुष संसार को कुछ देने के लिए आते हैं, लेने की इच्छा उनमें नहीं होती। वे दूसरों को सुखी तथा उन्नत देखना चाहते हैं, अपने सुख की, अपनी उन्नति की कामना उनमें नहीं उठती। ये भागवत योद्धा होते हैं, इनका जीवन अपने लिए अथवा परिवार के लिए नहीं होता। ये दूसरों के लिए जीते हैं और सारी पृथ्वी को अपने परिवार के रूप में देखते हैं। मानव मात्र का कल्याण ही इनकी दृष्टि में सर्वोच्च भागवत सेवा का रूप होता है। उसके लिए अपने सब सुखों का बलिदान करने को, यहाँ तक की व्यक्तिगत मुक्ति की इच्छा का त्याग करने को भी सर्वदा उद्यत रहते हैं।

अतिमानसिक चेतना में, उसकी समग्र दृष्टि में, एक ओर परमार्थ तत्व का तथा दूसरी ओर उसकी आत्म-अभिव्यक्ति रूप इस सृष्टि का ज्ञान स्वाभाविक है। अर्थात् कैसे परमात्मा सृष्टि का रूप ग्रहण करते हैं, इसे अपने अंदर धारण करते हैं और कैसे इसके कण-कण में निवास करते हैं।

संकट एवं समाधान

सीमाहीन अनंत शून्य में निराधार घूमती निश्चेतन धरा पर किसी अगाध अतिचेतन चेतना की पहली-पहली किरण पड़ती नजर आ रही है, जो पृथ्वीतल में अब तक पलते हुए अमित अज्ञान-अंधकार की गहरी जमी जड़ों को उखाड़ फेंकने का सफल प्रयास कर रही है। एक संक्रमण काल में से संसार गुजर रहा है। कलि दम तोड़ रहा है, सतयुग पूर्ण निश्चिति के साथ, लेकिन लघु पगों से, उसका स्थान ग्रहण करने आगे आ रहा है। प्राचीन सभ्यता के पैर लड़खड़ा रहे हैं। नयी पालने में से झांक रही है। मानदंड टूट रहे हैं। मूल्य उठ-गिर रहे हैं। पुरानी वस्तुओं का स्थान नयी ले रही हैं। जन-जन में जागृति, समाजों में क्रांति, अन्याय के प्रति प्रतिरोध, दमन के प्रति प्रतिक्रिया, सब देशों, धर्मों और जातियों में दिखायी दे रही है। मानव-मन की अब तक की उपलब्धियाँ, धर्माधर्म एवं आचार सम्बन्धी धारणाएं, वर्ण-विभाग सम्बन्धी उसकी व्यवस्था, जगत, जीवात्मा एवं ईश्वर के विषय में अब तक का उसका चिन्तन, आधुनिक समाजवाद, साम्यवाद व गणतंत्र का उसका सिद्धांत मानवता को उसकी वर्तमान समस्या का स्थायी समाधान प्रदान करने में असफल सिद्ध हो रहे हैं।

क्रांति के इस प्रचंड तूफान में मानव अपनी जीवन-नौका फँसी पा रहा है। वह दिशा का भान खो बैठा है। गंतव्य उससे

गुम गया है। वह भयभीत असहाय खड़ा चतुर्दिक ताक रहा है। किसी अकल्पनीय एवं अनिर्वचनीय अशुभ के आगमन का संकेत वह अपनी चेतना में पा रहा है। एक अनिष्ट, अमंगल एवं विनाश की विभीषिका से वह आशंकित है। किंकर्तव्यविमूढ़, हताश हुआ एक सबल सहारे की, एक सशक्त सहायक की खोज में इतस्ततः चक्कर काटता है, निराश हो पुनः रुक जाता है। एक नयी चेतना का दबाव उसकी अंतश्चेतना अनुभव कर रही है। जो उसे उसके उज्ज्वलतम भविष्य के लिए, जिसके विषय में वह अभी अचेतन है तैयार कर रही है। इस दबाव को वह दिन-दिन अधिक तीव्र अनुभव कर रहा है। शारीरिक, प्राणिक एवं मानसिक वृत्तियों-प्रवृत्तियों की परिधि में घूमते, चक्कर काटते, विश्व के वर्तमान विषैले वातावरण में जीवन के बहुमूल्य दिवस एक-एक करके बिता रहा है। अपने लक्ष्यहीन जीवन की निस्सारता को लखकर, कुछ अति तुच्छ आवेगों, कामनाओं, प्रतिक्रियाओं की पूर्ति में ही अपने आपको फँसा पाकर, एक अंतर्वेदना से, मानसिक असंतोष से वह कराह रहा है। विज्ञान की विविध देन से प्राप्त सुख-वैभव से अब वह ऊब गया है। विलासिता की स्वर्ग-सी शोभायमान सामग्री से भरपूर भंडारों के होते हुए भी एक अपरिचित अस्पष्ट अभाव वह अपने भीतर अनुभव कर रहा है।

एक ओर भूतकाल की जिन शक्तियों के प्रभाव में वह अब तक था, जो उसे चला रही थीं, उसे अपनी संकीर्णता की

जंजीरों में जकड़े रखना चाहती हैं। दूसरी ओर यह नयी चेतना उसकी विकसनशील आत्मा में छिपी दिव्य मानवता को बाहर लाना, उसके जीवन को इसकी अभिव्यक्ति के साँचे में ढालना चाहती है। ऊर्ध्व और निम्न दो ध्रुवों के मध्य मानव निःसहाय खड़ा है। कभी उसे अपने विगत जीवन के प्रति आकर्षण होता है तो कभी भावी स्वर्णिम युग की परिकल्पनाओं में वह खो जाता है। जब वह अपनी आज तक की बाह्य उपलब्धि के आधार पर चिन्तन करता है तो उसके सम्मुख अंधकार छा जाता है। विज्ञान की अद्‌भुत देन और क्षमता में उसे कोई सुदृढ़ धरातल, संतोषजनक समाधान नजर नहीं आता। वह बेचैन है, संतप्त है, अवसाद, विषाद के बादलों से घिरा है, दुखी है।

एक स्थल पर आकर मानव की बौद्धिक प्रगति अवरुद्ध हुई-सी लग रही है। जिस बुद्धि को अपने ऊपर असीम विश्वास था वह भी कुछ ठोस, निश्चयात्मक, स्वस्थ चिंतन करने में, किसी सर्व-सुरक्षित चेतना स्तर को प्राप्त करने में सफल नहीं हो रही है। वह अपनी सीमा, मनसातीत वस्तुओं के विषय में विचार करने की अपनी अयोग्यता, अब भली प्रकार समझ रही है। वह देख रही है कि वह एक ऐसे स्थल पर पहुँच चुकी है जहाँ से और आगे प्रगति नहीं कर सकती, और ऊपर उड़ान नहीं भर सकती। जो वह अधिक से अधिक

कर सकती है वह होगा— विकास का जो स्तर उसने प्राप्त किया है उसी में चक्कर काटते रहना या थोड़ा बहुत हेर-फेर या संशोधन करते जाना। प्रगति के पथ पर अग्रसर होने में अपने आपको अयोग्य पाकर, आत्मा के विशाल, अंतहीन प्रदेशों में अपने लिए "प्रवेश निषेध" का संकेत लखकर, उसका धैर्य टूट गया है, सहनशीलता समाप्ति पर है, शांति भंग हुई-सी प्रतीत हो रही है। वह चंचल, उतावली-सी, विक्षिप्त-सी नजर आ रही है। भय की इस आशंका से मानवता कुछ कम्पित-सी, सहमी-सहमी किसी स्वर्णिम युग की दीप्तिमय उषा के आगमन के साथ किसी अतिमानसिक चेतना के अवतरण की, एक स्वच्छतर, निर्मलतर, आभामय क्षितिज के खुलने की प्रत्याशा में दिन गिन रही है, संक्रमण की घड़ियाँ गुजार रही है।

सभी खतरा अनुभव कर रहे हैं। किसी सुरक्षित स्थल की प्राप्ति के लिए, एक सामंजस्यपूर्ण शांतिमय वातावरण के लिए प्रयत्नशील हैं। नीतियों में परिवर्तन आया है। पार्टियों में संशोधन जारी हैं। सरकारें अदल-बदल कर देखी जा रही हैं। नियमों और विधानों में नमनीयता लायी जा रही है। नये नेता निर्वाचित हो रहे हैं, उच्च आदर्शों की खोज तेजी में है। प्राचीन आदि-अनादि शास्त्रों के प्रति पुनः श्रद्धा का उदय होता दीख रहा है। एक बार फिर प्राचीनतम भारतीय संस्कृति की ओर

जगत का झुकाव बढ़ रहा है। भुलायी हुई आध्यात्मिकता को मानव जीवन का अंग बनाने का सत संकल्प उठा है। शायद कहीं से कोई समाधान मिल जाये, कोई हल निकल आये, जो मानव को उसके वर्तमान संकट-काल में सहायता कर सके "जो संकट पूर्णतः उसकी विकासोन्मुखी आत्मा का संकट है।"

आज मानवता कुछ और चाहती है। वह एक अति विशाल, अति उच्च चेतना की मांग करती है। सीमित दृष्टिकोण, संकीर्ण मनोभाव, आंशिक सत्य, एकांगी मत उसे संतुष्ट नहीं करते। एक उच्चतम सत्य की, एक सर्वग्राही ज्ञान की, एक अतिमानसिक पूर्णता की अभीप्सा उसके हृदय में उठ रही है। मानव के क्षुद्र मानसिक अहं को आकर्षित करने वाले आदर्श, इधर-उधर से सुने-सुनाये अनुभवहीन ज्ञान पर आधारित संप्रदाय, आडम्बरयुक्त खोखली निर्जीव रूढ़िग्रस्त धार्मिकता, जग-जीवन को मिथ्या, भ्रम तथा त्याज्य कहने वाला दर्शन, उसके अंतर में उठती हुई अभीप्सा की इस अग्निशिखा को, पूर्णता की प्यास को नहीं बुझा सकते। उसे तो केवल सर्वोच्च स्वर्ग की, दिव्य अतिमानसिक लोक की, ज्ञान-गंगा की मधुमय धारा के अनुपम अवतरण से ही शांति-संतुष्टि मिल सकती है। पाप-मुक्त करने वाले धर्म-स्थानों में, मुक्ति दिलाने वाले धामों में, विश्व को धार्मिक बनाने वाले संघों में, मंदिर,

मस्जिद, गुरुद्वारे या गिरजाघरों में कहीं भी आज ऐसा वातावरण उपलब्ध नहीं है, जो उस अलौकिक शक्ति से स्पंदित, दिव्य तेज से आलोकित, भगवद्‌प्रेम से परिप्लावित हो तथा आत्मिक संबंध एवं पवित्रता की सुरभि से सुरभित हो, जहाँ विस्तार को प्राप्त होती हुई मानव-बुद्धि, दिन-दिन खिलता हुआ उसका मानस कमल, उत्तरोत्तर वर्द्धमान विकासोन्मुखी उसकी आत्मा, अपने भावी विकास के लिए, अपनी निम्न आत्मा को उच्च दिव्य-आत्मा में पूर्णतः रूपांतरित करने के लिए, पर्याप्त आधार, शक्ति, ज्ञान तथा पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर सके। किसी धर्म-ग्रंथ के प्रति अश्रद्धा, पैगम्बर के उपदेशों के प्रति अविश्वास, उनकी आज्ञा का उल्लंघन, अब उसके हृदय में किसी नारकीय जीवन का भय उत्पन्न नहीं करते; उसी प्रकार दूसरी ओर परम्परागत मान्यताएँ, यांत्रिक बाह्य पूजा-पाठ, रूढ़िगत धार्मिकता– जो देवालयों में नियमित, दैनिक व साप्ताहिक हाजिरी देने का उपक्रम मात्र रह गया हो– उसकी सरल, शिशुवत भोली आत्मा को आकर्षित नहीं करती।

मानव आज एक ऐसी उच्च आध्यात्मिक चेतना को अपने जीवन और कर्मों का आधार चाहता है, जो सबको समान रूप से आंतरिक संतुष्टि प्रदान करे। एक ऐसे पथ-प्रदर्शक की खोज में आज वह सजग भाव से संलग्न है जो जीवन के त्याग का पाठ न पढ़ाकर उसकी अपूर्णताओं को आध्यात्मिक

क्षमताओं में परिवर्तित करे, तथा पृथ्वी पर दिव्य जीवन यापन करने की शिक्षा व क्षमता प्रदान करे, जो उसे कर्म का त्याग करने को न कह, यह बताये कि किस कर्म के करने से, किस मनोभाव के साथ करने से वह भुक्ति-मुक्ति दोनों को प्राप्त कर सकेगा तथा साथ ही वह साधन, जिसके द्वारा वह अपने वर्तमान अंधकारमय जीवन से ऊपर उठकर अपनी निष्पाप, पावन-परम-पुनीत आत्मा में स्थित हो सकेगा। वह अपनी चिर पोषित अभिलाषा को साकार देखना चाहता है, जीवन मुक्त हुआ पृथ्वी पर प्रभु के सचेतन यंत्र के रूप में जीवन जीना चाहता है। वह एक वाणी सुनना चाहता है, ऊर्ध्व लोक से आये अपूर्व आदेश-पालन की शुभ अभिलाषा उसके रोम-रोम में व्याप रही है। ऐसी वाणी, जो उसे उसके कर्तव्य के प्रति सचेतन कर सके। आदेश– जिसका पालन उसे सीधा उसकी अन्तःसत्ता के साथ संयुक्त कर दे। कर्म के एक दिव्य विधान की खोज उसके मस्तिष्क में जारी है। वह जीवन जीने की कला सीखना चाहता है। अपने अंदर उस आधारशिला को उपलब्ध करना चाहता है, जिस पर खड़े होकर उसके पूर्वज महान से महान दुख से भी विचलित नहीं होते थे। जिसके सहारे मनुष्य जीवन में आने वाले प्रबल से प्रबल झंझावात को भी मृदु मुस्कान के साथ अडिग-अविकम्प रहते हुए सह सकता है। अब वह समझ रहा है और कहता है– मैंने जो भी

अब तक किया अगर वह निरर्थक नहीं रहा तो भी वह ठीक वही नहीं था जो समयोचित दृष्टि से करणीय था। भले ही मेरा हर कदम विपरीत दिशा में नहीं था, तो भी वह उस गन्तव्य दिशा की ओर नहीं था जहाँ पहुँचने पर अन्यत्र नहीं पहुँचना होता, सभी सच्चे पुरुषार्थ जिसकी प्राप्ति हेतु किये जाते हैं। सब अभियानों का जो गन्तव्य है, जड़-जंगम के जीवन का जो आधार है, आकर्षण केंद्र है।

वह सभी सीमाओं से बाहर आना चाहता है। सभी बंधनों से मुक्त होना चाहता है। सब आडंबरों को पैरों तले कुचल देना चाहता है। वह एक नये धर्म, नये दर्शन की मांग करता है। एक ऐसा सार्वभौम धर्म जो सारी मानवता को गले लगाता हो; जिसकी दृष्टि में प्राणिमात्र प्रभु का प्यारा, उसकी संतान हो; वस्तु मात्र उसी अरूप-अनाम सत्ता का प्रतिरूप हो। एक ऐसा दर्शन जो स्रष्टा एवं सृष्ट वस्तुओं का समग्र ज्ञान रखता हो। हर वस्तु अपने आप में क्या है, किस तत्व की अभिव्यक्ति है, आत्म-तत्व क्या है और वह कैसे चेतना के विभिन्न स्तरों के द्वारा अभिव्यक्त होता है, कैसे परम तत्व स्थूल रूप धारण करता है ! क्या स्थूल पदार्थ, मात्र एक पदार्थ है ? या केवल हमारी भौतिक दृष्टि को प्रतीत होता है। अगर होता है तो अवश्य उस सूक्ष्म आत्म-तत्व ने ही यह स्थूल रूप लिया है ; कारण, आरम्भ में उस अनादि सत्ता के सिवाय यहाँ कुछ नहीं

था। जो भी सृष्ट हुआ वह सब उसी के अंदर से, उसी के द्वारा, उसी के लिए हुआ होगा, या हुआ है। कारण, उस एकमेवाद्वितीय सद्वस्तु के सिवाय न यहाँ कुछ था न है, न होगा, न होना संभव है। अगर हम मानें आत्म तत्व का ठोस रूप में प्रकट होना अपने आपमें एक चमत्कार है, असंभव कार्य है, आश्चर्यों का आश्चर्य है, तब इस चमत्कार का उद्‌गम, इसकी पद्धति, इसे कार्यान्वित करने वाली कर्त्री शक्ति और शक्ति का आधार स्तम्भ कौन, कहाँ और क्या है ? कैसे विश्वातीत, सनातन परम-पुरुष स्वयं अपने में से, अपने द्वारा, अपने अंदर, अपने लिए, अपने आप अचल-निष्क्रिय-अकर्ता रहते हुए, इस अनंत-असीम विश्व रूप में अपने आपको व्यक्त करता है और व्यक्त करके कैसे अपने अंदर धारण करते हुए भी, इसे अपने से बाहर रखता है, उसमें स्थित होते हुए भी इससे परे रहता है; इसके कण-कण में विराजमान रहते हुए भी इससे कोई आदान-प्रदान या संबंध, लगाव न रखने में सफल होता है। कैसे वह एक, अखंड होते हुए भी जो उसके पास जाते हैं उन्हें पृथक्-पृथक् स्वरूपों, भावों और अवस्थाओं में अनुभव होता है। कैसे वह सर्वत्र एक समान रहते हुए भी, पूर्ण निर्वैयक्तिक होते हुए भी, अस्तित्व के प्रत्येक स्तर पर पृथक्-पृथक् व्यक्तित्वों में, निर्गुण होते हुए भी विभिन्न गुणों में हमारी आत्मा के सम्मुख आता है। कैसे वह एक होते हुए भी

बहु है और कैसे इस बहु अवस्था को वह एक अपने अंदर धारण करता है तथा स्वयं इस बहु में निवास करता है। वह स्वयं सत् है और सभी असत् वस्तुएं उसका निवास स्थान हैं। "ईशावास्यमिदं सर्वम्।" वह शांत, अचल एवं निष्क्रिय है और विश्व की सभी क्रियाओं, गतिविधयों और शक्तियों का उद्गम है। संक्षेप में, आज का मानव वह दर्शन चाहता है जो उसे असत् में सत् के दर्शन करा सके और सत् में असत् की सत्यता को समझा सके। जो दर्शन उसकी मनश्चेतना को इतना विशाल बना सके कि इस विशालता में वह सत-असत् दोनों को एक धरातल पर, एक ही परम तत्व की अभिव्यक्ति या अवस्थाएं देख और अनुभव कर सके, साथ ही उनके संबंधों को, उनकी उपयोगिता को समझ व धारण कर सके।

आज मानव मन में एक नई मानवता जाग रही है। उसके चिंतन में एक नयी दिशा उदित हो रही है। एक नयी किरण का सुनहला प्रकाश उसकी विकसनशील बुद्धि पर पड़ रहा है। कोई अपरिचित, अज्ञात, चेतन-शक्ति उसके अंतःकरण को आलोकित कर रही है। एक विशालतर समन्वयात्मक मनोवैज्ञानिक समाधान की खोज में वह प्रयत्नशील है। वह अब भगवान के लिए, जगत का त्याग करने के लिए राजी नहीं है। आध्यात्मिक जीवन के लिए भौतिक जीवन से अलग हटना उसे नापसंद है। शांति, मुक्ति प्राप्त करने के लिए जंगल में जाकर निवास करना उसे दुर्बलता प्रतीत

होती है। वह एक ऐसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण की खोज में है जहाँ वह परम सत्ता के साथ-साथ जो वह है, जो वह कर रहा है, उसकी वास्तविकता के सत्य का भी दर्शन कर सके। वह घोषणा करता है कि "मैं सत्य हूँ और यह जगत सत्य है, और जो भी मैं कर रहा हूँ उसका भी एक सत्य है। जो दर्शन इस सत्य को स्वीकार करता हो, इसे अंगीकार करता हो, जिस दर्शन में इन विभिन्न स्तरों का ज्ञान हो, जिसमें इनका आधारभूत सत्य भासित होता हो, जिस स्तर से इनकी सत्यता, उपयोगिता परिलक्षित, परिसाधित होती हो, उसे सहर्ष ग्रहण करने को मैं तैयार हूँ।"

वर्तमान मानव अपूर्ण है। उसे अपनी संपूर्ण सत्ता का ज्ञान नहीं है। अभी भी उसकी सत्ता में ऐसे भाग हैं जिनके विषय में वह अचेतन है। एक चेतना उसके अंदर है जो सूक्ष्म भौतिक तथा सभी अति-भौतिक ज्ञान का स्रोत है। एक ज्योतिर्मय पुरुष उसके भीतर है जो समस्त ब्रह्मांडों को सृष्ट एवं नियंत्रित करता है। जिसके प्रकाश से ही यहाँ सब प्रकाशित है। एक अक्षय आनंद सिंधु उसकी सत्ता का सत्य है जो पूर्णतः निरपेक्ष होते हुए भी हमारे अस्तित्वों का आधारभूत चरम अस्तित्व है और यह जगत या इससे परे जो भी जगत हैं सब की अभिव्यक्ति का आदि मूल है। एक भागवत दिव्य शिशु उसका सच्चा व्यक्तित्व है जो सचेतन है। सत्यासत्य का निर्णय करने की विवेक शक्ति इसकी साधारण क्षमताओं में से है। यह सदा भगवान की ओर अभिमुख है। निज

प्रकृति को भगवान की ओर मोड़ना, उसका दिव्यीकरण साधित करना, उसे भगवान के साथ संयुक्त करना, पार्थिव जीवन में इसका लक्ष्य है। भगवान को पाने की, जीवन में उसे अभिव्यक्त करने की चिर-पोषित अभिलाषा इसके हृदय में है। यह भागवत अंश है और संसार की कोई वस्तु इसके लिए इसीलिए सत्य, सारमय और सार्थक है क्योंकि वह भगवान का रूप है, उसकी अभिव्यक्ति है, क्योंकि उसके अंदर इसका पिता, इसका प्रियतम, इसका स्वामी गुप्त रूप से विराजमान है। जगत में जो भी दिव्यता से दूर हो, आत्मा को अभिव्यक्त न करता हो, उसके प्रकटीकरण में बाधक हो, उस सब में इसका निवास नहीं है। यह सत्य एवं सौंदर्य का पुजारी है, प्रेम और दिव्यता का अनुरागी है। वर्तमान अदिव्य शक्तियों के प्रभाव से जगत को मुक्त कर, भगवान के राज्य को पृथ्वी पर स्थापित करने का दिव्य आवेग ही इसके दिव्य जन्म तथा दिव्य कर्म की चरितार्थता है।

अब तक मनुष्य ने जो कुछ ज्ञान अपने तथा जगत के विषय में उपलब्ध किया है, वह ज्ञान जो उसे उपलब्ध हो सकता है, उसकी तुलना में नहीं के बराबर है। मनुष्य सृष्टि में उस अनंत अस्तित्व का एक बिंदु मात्र है। लेकिन इस बिंदु में वह अनंत ज्यों का त्यों पूर्ण का पूर्ण, विकास की अनंत संभावनाओं के साथ विद्यमान है। इसके अंदर एक आत्मा है जो कल तक पशु में थी और उससे पूर्व वनस्पति में। यही कल अतिमानव में

प्रवेश करेगी। अतिमानव, मानव का रूपांतरित, उच्च, दिव्य स्वरूप होगा, जिसमें मानव को अभी साधना के द्वारा अतिमानसिक ज्योति व चेतना उपलब्ध करके विकसित होना है। अतिमानव में उठने के लिए, रूपांतरित होने के लिए, हम अपनी चेतना के द्वारा अतिमानस में आरोहण करते हैं और अपनी संपूर्ण सत्ता में अतिमानसिक ज्योति का अवतरण संभव बनाते हैं। अपनी बाह्य सत्ता को भी, मन-प्राण-शरीर रूपी यंत्रों को भी उसमें रूपांतरित करते हैं। हम उस अखंड, एकमेवाद्वितीय परम अविनाशी सत्ता के साथ न केवल अपनी आत्मसत्ता में एकत्व प्राप्त करते हैं वरन् अपनी बाह्य प्रकृति का भी दिव्यीकरण साधित कर, उसमें भी, उसके द्वारा भी, उसी 'पुरुष एकम्' के साथ तादात्म्य लाभ करते हैं। इसकी सर्वोपरि दिव्य देन यह होगी कि हम अपनी संपूर्ण सत्ता का उस अखंड अस्तित्व के साथ तादात्म्य रखते हुए, अपने व्यक्तित्व में भी निवास करने में समर्थ होंगे। हम चाहें तो उसमें डूबे हुए लीन अनुभव करें और चाहें तो उसमें निवास करते हुए अपने व्यक्तित्व को पृथक् अनुभव कर संसार में विचरण करें।

श्रीअरविंद के अतिमानसिक या पूर्ण योग द्वारा प्रदत्त यह सिद्धि या मुक्ति ठीक वही नहीं है जो सामान्यतया इन शब्दों से योग दर्शनों में समझी जाती है। वहाँ मुक्ति का अर्थ एक लय के भाव में होता है। जहाँ हम अपने बाह्य व्यक्तित्व को त्याग, आंतरिक सत्ता में एकाग्र होकर अपने मूल स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। जो इस

अनुभव एवं सिद्धि का एक पक्ष है। पूर्ण मुक्ति वही है जहाँ आंतर और बाह्य दोनों सत्ताएँ साथ-साथ सभी प्रकार के बंधन व सीमाओं से मुक्त हों: एक ऐसी दिव्य परा स्वतंत्रता जो मोक्ष एवं मुक्ति की भावात्मक तथा अभावात्मक अवस्थाओं से मुक्त हो, परे हो।

अतिमानव अपने आपमें एक पूर्ण दिव्य मानव होगा, जिसे अपनी सत्ता व जगत सत्ता का पूर्ण ज्ञान होगा। प्राकृतिक शक्तियों पर उसका पूर्ण प्रभुत्व होगा। वह सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त होगा। अज्ञान-जनित कोई भी क्रिया उसकी सत्ता के किसी भाग में घटित नहीं होगी। उसका मन भूतल पर भागवत चैतन्य का केंद्र होगा। हर शारीरिक क्रिया उस सनातन सत्य संकल्प की चरितार्थता होगी। उसका जीवन पृथ्वी को स्वर्ग से जोड़ने वाला दिव्य सेतु होगा। अतिमानव की वैयक्तिक चेतना मानसिक न होकर अतिमानसिक होगी। सारा संसार उसके व्यक्तित्व का एक भाग होगा, जिसमें वह बिना किसी बाधा के क्रिया एवं हस्तक्षेप कर सकेगा। संसार में वह एक भागवत-कर्मी के रूप में, भगवान के यंत्र के रूप में कार्य करेगा। कोई ऐसी शक्ति नहीं होगी जो उसके स्वाभाविक दिव्य संकल्प के सम्मुख ठहर सके या उसका प्रतिरोध कर सके। अपनी क्रिया में वह पूर्ण निरहंकारी होगा। सत्य भागवत चैतन्य उसके रोम-रोम से प्रवाहित होगा। अतिमानव का जीवन पृथ्वी पर सत्यं शिवं सुन्दरम् की सीधी अभिव्यक्ति होगा। वह पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि होगा और मानव जाति के आध्यात्मिक रूपांतर में पथ-प्रदर्शक तथा सहायक होगा।

मानव जाति के इस संकट का श्रीअरविंद ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में अनुभव किया था। उन्होंने अनुभव किया था कि एक महान परिवर्तन में से, एक संक्रमण काल में से संसार को गुजरना है। पुराने मूल्य खंडित होंगे, समाज का ढांचा नये आधार पर खड़ा होगा। एक नयी चेतना पृथ्वी पर अवतरित होगी, जो सृष्टि-विकास-क्रम को एक नयी दिशा प्रदान करेगी। उन्होंने इस संकट को मानव जीवन का "विकासात्मक संकट" कहा था।

श्रीअरविंद कहते हैं– "मानव का स्वर्ग की ओर आरोहण समाधान नहीं है। बल्कि उसका यहाँ आत्मा की ओर आरोहण और साथ ही आत्मा का उसकी सामान्य मानवता में अवरोहण और इस पार्थिव प्रकृति का रूपांतर ही समाधान है। कारण, मृत्यु के बाद मोक्ष नहीं बल्कि यह रूपांतर ही वह सच्चा नया जन्म है जिसके लिए मानव जाति अपने लंबे अंधकारपूर्ण और कष्टप्रद पथ की चरम परिणति के रूप में प्रतीक्षा कर रही थी।" उनका कहना है कि व्यक्ति और समाज दोनों की समस्याओं का अंतिम समाधान मानवता के आध्यात्मिक रूपांतरण में ही साधित हो सकता है। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक नहीं बन जाता उसकी समस्या, एक के बाद दूसरी, सदा बनी रहेगी।

"मानव का सर्वांगीण आध्यात्मीकरण ही समाधान है।"

विकास-क्रम

एक नयी चेतना, अतिमानसिक चेतना संसार में अवतरित हुई है, जो मनुष्य का, उसके जीवन का रूपांतर करना चाहती है। उसे तथा उसके जीवन को दिव्यता में उठाना चाहती है। अतिमानसिक चेतना वस्तुओं में उनके खंडित, आंशिक सत्य पर नहीं ठहरती वरन् उसे भेद कर उसके परे समग्र सत्य को देखती है। हम परमार्थ तत्व तथा उसकी यह अभिव्यक्ति रूप सृष्टि दोनों के मूलभूत सत्य को एक साथ देखते हैं। जगत के पदार्थ हमें आकार मात्र भासित नहीं होते। हम उनके साथ उनमें छिपे सत्य के भी दर्शन करते हैं। जिन्हें अतिमानसिक दृष्टि प्राप्त है उन्हें यह जगत मिथ्या पदार्थों का एक प्रवाह मात्र दिखायी नहीं देता। वे इसे आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं जिसके कण-कण में उसका दिव्य संकल्प क्रियाशील है और इसे इसके मूल की ओर एक विकास-क्रम के द्वारा अग्रसर कर रहा है। जहाँ यह अपनी मूल दिव्यता में रूपांतरण लाभ करेगा। उनका कहना है कि यह सृष्टि माया की रचना नहीं है। मिथ्या प्रतीति नहीं है। न इसमें मौलिक तौर पर कोई त्रुटि, दोष अथवा आसुरिक तत्व ही विद्यमान है। अगर हमें ये सब चीजें सृष्टि-रचना में दिखायी दे रही हैं तो वह इसलिए कि सृष्टि अपने आपमें अभी एक सम्पन्न कर्म नहीं है। निर्माण

कार्य जारी है। जब निर्माण कार्य समाप्त हो जायेगा, रचना पूर्ण हो जायेगी, सृष्टि एक सुन्दर, दिव्य वस्तु के रूप में दिखायी देगी। यहाँ सब सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अभिव्यक्ति होगा। धरती का वातावरण स्वर्ग से भी अधिक वैभवपूर्ण होगा। मनुष्य अपनी चेतना में विकास करेंगे, उसकी सीमित परिधि से बाहर आयेंगे, विश्व चेतना-स्तर उनका अपना स्तर होगा। वे आकारों के पीछे निराकार के दर्शन करेंगे। मनुष्यों के साथ व्यवहार करते हुए, उनमें भगवान के साथ व्यवहार करेंगे। आत्म-सत्य में निवास उनकी स्वाभाविक स्थिति होगी। आत्मा की उच्चता में उठना, आत्मा की दृष्टि से जगत को देखना उनका स्वभाव होगा। उस विशालता में पारस्परिक हिंसा-द्वेष के भाव, घृणा तथा अत्याचार के भाव, अनाचार दुराचार की क्रियाएँ विजातीय वस्तुएँ होंगी और उन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकेंगी। भागवत प्रेम पृथ्वी के वातावरण को अधिकृत करेगा, मानव परस्पर प्रेम-शृंखला में बंध जायेंगे, परहित में, परसुख में अपने सुखों का बलिदान करना उनका स्वाभाविक कर्म होगा। अगर हम इस तथ्य में विश्वास करें कि सृष्टि अपने निर्माण-कार्य में है और इसका वर्तमान स्वरूप अंतिम अर्थात् परिपूर्ण रूप नहीं है, तो हमारे हृदय में नव आशा का संचार होगा। संसार के स्वर्णिम भविष्य में हमारी आस्था दृढ़ होगी। मनुष्यों के प्रति हमारा दृष्टिकोण परिवर्तित हो जायेगा।

अगर आज हमें सृष्टि दोषपूर्ण, त्रुटियों से भरी दिखायी देती है तो यह सृष्टि का दोष नहीं, हमारी सीमित दृष्टि का दोष है जो अभी एक तमसिल मानसिकता के ऊपर निर्भर करती है। हम मानसिकता को भेद कर, बौद्धिक ज्ञान के स्तर को पार कर, अपने भीतर आत्मा के सानिध्य में नहीं पहुँचे। हमने आत्मा की निर्भ्रांत, अमिश्रित, निर्दोष दृष्टि प्राप्त नहीं की जो वस्तुओं के बाह्य आकारों को भेदकर उनके वर्तमान स्वरूप के परे उनमें निहित सत्य को देखती है। उनकी यथार्थता को, उनकी वर्तमान अपूर्ण स्थिति को, उनमें छिपे अर्थ को, उसके प्रयोजन को समझती है और उस विकासोन्मुखी सत्ता के दर्शन करती है जो उनके भीतर अपने समय की प्रतीक्षा कर रही है। जिसे कि एक दिन यहाँ इन धूलिकणों में प्रकट होना है। जिसका प्रकटीकरण सृष्टि की भावी नियति है। जो इसे सही अर्थवत्ता प्रदान करेगी।

शास्त्रों के अनुसार भगवान ने स्वयं सृष्टि का रूप ग्रहण किया है। यह उनकी रचना मात्र नहीं, उनका स्वरूप है। वे ही सृष्टिकर्ता हैं, वे ही सृष्टि-रूप कर्म हैं, वे ही इसमें क्रियाशील शक्तियाँ हैं, अर्थात् वे ही रचना हैं, रचना-कर्त्ता हैं, रचना रूपी क्रिया हैं। सृष्टि को शास्त्रों में एक लीला के रूप में भी देखा गया है। जो उनकी अपनी लीला है। जिसे वे अपने अंदर, अपने द्वारा, अपने लिए कर रहे हैं। यहाँ उनके सिवाय अन्य कोई नहीं। सब कुछ एक आनन्दमय पुरुष का, अपने आनंद के लिए, आनंद के अंदर विस्तार है।

रूपांतर- तीन चरण

मानव का अतिमानव में रूपांतरण अर्थात् उसकी संपूर्ण सत्ता का अतिमानसिक दिव्यता में दिव्यीकरण श्रीअरविन्द के योग का लक्ष्य है। चैत्य, आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक ये रूपांतर के तीन स्तर हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। प्रथम, चैत्य रूपांतर में व्यक्ति की अहमात्मक चेतना का स्थान उसका चैत्य-पुरुष ग्रहण कर लेता है। हम आत्मा की ओर उद्घाटित रहते हुए, उसी के प्रभाव में रहते हैं, उसी के चलाये चलते हैं। जीवन-धारा उसी की ओर प्रवाहित होती है। जीवन उसी की अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। हमारे अंदर अभीप्सा इतनी तीव्र हो जाती है कि व्यक्तिगत मांगें तथा सुख-भोगों की इच्छाएँ उसमें स्वाहा हो जाती हैं। स्वभाव निम्न वृत्तियों के मिश्रण से मुक्त हो जाता है। हम हर स्थिति में प्रभु पर निर्भर करते हैं। अहंशून्यता, सच्चाई हमारे जीवन के आधार होते हैं। हमारा व्यक्तित्व श्रद्धा-भक्ति से भरपूर रहता है। जिसमें अहंकार तथा वासना के लिए, निम्न प्रकृति की इच्छाओं के लिए, आवेगों के लिए कोई स्थान नहीं रहता। आत्मा के संकल्प को चरितार्थ करना उसके इंगित को पहचानना, उसका अनुसरण करना जीवन का स्वरूप होता है। हमारी अभीप्सा में पुराने स्वभाव तथा संस्कारों के मिश्रण की संभावना समाप्त हो जाती है। सारी सत्ता प्रभु को

समर्पित हो जाती है। प्रकृति शुद्ध, शांत, आध्यात्मिक होकर प्रदीप की लौ की भांति ऊर्ध्वमुखी हो जाती है, उसका प्रवाह हृदयेश्वर के चरणों में।

आध्यात्मिक रूपांतर में व्यक्ति-चेतना विकसित होकर विश्वमयी हो जाती है। हम उच्च आध्यात्मिक स्तरों पर आरोहण करते हैं। हमारे अंदर उनके अवतरण होते हैं। सत्ता के हर भाग की चेतना का विश्व-चेतना के साथ तादात्म्य रहता है। आंतरिक स्तर पर सब सीमाहीन हो जाता है। सूक्ष्म शरीर में स्थित हमारे केंद्र खुल जाते हैं। हम अहमात्मक व्यक्ति-चेतना का अतिक्रमण कर जाते हैं। विश्व-चेतना से सतत युक्तता हमारा स्वभाव बन जाता है। विश्व-पुरुष की चेतना हमारा अपना चेतना-स्तर होता है। हमारी गति अज्ञान से ज्ञान की ओर न होकर ज्ञान से उच्चतर ज्ञान की ओर होती है। संक्षेप में कहें तो आध्यात्मिक स्कूलों की सभी उपलब्धियाँ 'आध्यात्मिक रूपांतर' में समाविष्ट हैं।

तीसरा, अतिमानसिक रूपांतर, सारी सत्ता का मन, प्राण, शरीर और इनकी प्रकृति का दिव्यीकरण है। इसमें व्यक्ति और उसकी प्रकृति अतिमानसिक ज्योति, शक्ति और चेतना की ओर उद्‌घाटित होती है। उसे धारण करती है और उसमें रूपांतरित होती है। सत्ता के हर अंग में, हर कोश में अतिमानसिक ज्योति प्रवाहित होती है। रोम-रोम उससे ओत-प्रोत हो जाता है। हमारी

सारी सत्ता, अपने निम्नतम भाग शरीर में भी उस ज्योति से ज्योतित, उसमें रूपांतरित हो जाती है। अतिमानसिक ज्योति के द्वारा उसकी दिव्यता में रूपांतरित व्यक्ति श्रीअरविन्द के अनुसार अतिमानव कहलायेगा।

अतिमानसिक चेतना के पृथ्वी पर अवतरित होने का यह अवश्यंभावी परिणाम है। अतिमानव को कल का मानव अपने साथ पृथ्वी पर विचरण करते देखेगा। उसके साथ व्यवहार करेगा। उसके पथ-प्रदर्शन में चलकर अपने जीवन को आत्मा की अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करने में सफल होगा।

पृथ्वी पर भागवत कर्मी, भगवान का यंत्र अपने अंदर एक प्रेरणा अनुभव करता है, एक वाणी वह अपनी आत्मा में सुनता है, एक मधुर मुस्कान से भरी दिव्य उपस्थिति वह अपने समीप पाता है। उत्साह, जोश और उल्लास से भरी उमंगें उसके हृदय में उठती हैं। निर्भीक और निस्संदिग्ध हुआ वह भगवद्‌निर्दिष्ट स्वकर्तव्य पालन में संलग्न रहता है। उसकी दृष्टि में एक ही वस्तु होती है, भागवत आदेश। एक ही लक्ष्य, भागवत आदेश पालन। वही उसका जीवन है। जीवन का धर्म और उपलब्धि है। उसकी आत्मा अपने अवतरण के औचित्य को इसी में सिद्ध हुआ मानती है। प्रभु प्रसन्नता उसके लिए सबसे महान वस्तु है।

आत्म-बोध

हे मानव ! तेरे हृदय में एक भागवत उपस्थिति है। तू अपने सच्चे स्वरूप में आत्मा है। तेरी आत्मा में शक्ति है। जब मानव-संकल्प इस शक्ति के साथ युक्त हो जाता है तो वह असाधारण रूप से सामर्थ्यवान हो जाता है। धरती पर एक असहाय-सा प्राणी होकर नहीं भटकता। प्रकृति के हाथ का खिलौना नहीं रहता। इंद्रियों की दासता में जकड़ा हुआ, कामनाओं के जाल में फँसा हुआ, अहंकार के द्वारा शासित, सामान्य प्राणी नहीं रहता। हमारा चेतना-स्तर परिवर्तित हो जाता है। हम उच्च जीवन यापन करने में समर्थ हो जाते हैं। अतः जीवन में जो भी आये उसे चुनौती देता चल। घटनाओं के विकट स्वरूप से, उनके भयंकर परिणाम से विचलित मत हो। अपने अंदर शक्ति-संचय कर। भागवत कृपा उन सब के पीछे होती है जो दूसरों के लिए, संसार के लिए, अपने जीवन को आहुति का रूप प्रदान करते हैं। अपने अंदर आत्म-विश्वास जगा। आत्म-शक्ति में आस्था उत्पन्न कर। सुख या दुख जो भी मार्ग में आये सहर्ष स्वीकार करता चल। जहाँ भी कड़वाहट के घूँट भरने पड़ें, मधुर मुस्कान के साथ उनको भरता चल। इस भाव के साथ आगे बढ़ कि तू एक आहुति है और सृष्टि कर्ता के सृष्टि-रूप इस यज्ञ में तुझे स्वाहा होना है। स्वाहा होकर

सर्वत्र सुगन्धि-रूप में फैलना ही तेरी नियति है। तेरा अंतिम श्वास इस सृष्टि-यज्ञ में तेरी ओर से पूर्णाहुति होगा। तत्पश्चात् यह यज्ञ अवश्य सफलता लाभ करेगा। इसके अमृतमय फल-प्रसाद से पृथ्वी के प्राणी लाभान्वित होंगे। उनकी चेतना में परिवर्तन आयेगा, वे स्वार्थ-भावना से ऊपर उठेंगे, उनके जीवन में उत्थान आयेगा और उन्हें परहित में, दूसरों के लिए जीवन यापन करने में आंतरिक सुख की अनुभूति होगी।

यह जगत भगवान की रचना है। यह सृष्टि उनकी अपनी आत्म-अभिव्यक्ति है। इसकी हर क्रिया के पीछे उनका दिव्य संकल्प विद्यमान है। यहाँ ऐसी कोई घटना घटित नहीं हो सकती जो उनके संकल्प की चरितार्थता न हो। जो भी घटित होता है उनके पूर्ण ज्ञान में, उनकी सर्वकालद्रष्टा दृष्टि के द्वारा पहले से जाना हुआ, पहले से देखा हुआ होता है। इसी सत्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि इस संसार में कोई भी वस्तु अपने मौलिक स्वरूप में मिथ्या, कुरूप, घृणित, पापमय नहीं है। अगर हमें कहीं कुछ ऐसा, कुछ अन्याय अथवा अंधकार पूर्ण दिखायी देता है, तो इसलिए कि वह अपने निर्माण कार्य में है। रचना-कार्य पूर्ण होते ही उसका बाह्य स्वरूप भी, अपने आंतरिक दिव्य, शुद्ध स्वरूप की भांति सत्यमय तथा ज्योतिर्मय हो जायेगा।

सीमा कहाँ ?

हमें यह समझने में देर लगेगी कि आकारों के पीछे भी आकार हैं, जगत के पीछे भी जगत हैं। हम इतने ही नहीं हैं जितना अपने आपको जानते हैं अथवा समझते हैं। हमारे चारों ओर का यह जगत भी इतना मात्र नहीं है, जितना हमने इसे अब तक देखा और जाना है। हमारी अपनी सत्ता का और इस रहस्यमय जगत सत्ता का एक बड़ा भाग अभी भी हमारी दृष्टि से छिपा है। हमारे ज्ञान से बाहर है। गन्तव्य के विषय में भी अभी हमारा ज्ञान अपूर्ण है। जो जानकारी प्राप्त है वह अति अल्प है, सीमित है। परम आत्मा का हिरण्यमय गर्भ अनंत संभावनाओं से भरा है, जिसे यहाँ अभिव्यक्त होना है। जिसकी झांकी मानव मन को अब तक प्राप्त नहीं हुई है। अनंत सत्ता अपनी हर अवस्था में अनंत प्रकार से अनंत है। तब हम कैसे कह सकते हैं कि मनुष्य ही सृष्टि-विकास का अंतिम शिखर है और बुद्धि सर्वोच्च पथ-प्रदर्शक, या जो प्राप्त हो सकता था वह केवल यही है ? अनंत आत्मा की अभिव्यक्ति की धारा अनंत है। यह जगत उसी दिव्य पुरुष का लीलाधाम है जो यहाँ अपने आनंद के लिए एक अदिव्य रंगमंच रचता है, अदिव्यता से भरे नाटक का अभिनय करता है और पुनः अपनी दिव्यता में लौट जाता है।

परमात्मा ने अपने आनंद के लिए, लीला के लिए, इस अनंत रहस्यमय जगत की अपने अंदर, अपने लिए रचना की है। दूसरे शब्दों में– यह सब एक परम चैतन्य सत्ता की रचना है, जो स्वयं सत् है और सबका मूल सत्य है, अतएव इसमें एक अर्थ है, एक प्रयोजन है। क्योंकि इसकी हर धारा में वह मूल सत्य प्रवाहित है, जो एक दिव्य तत्व है। लेकिन जो हमारी मानसिक दृष्टि से अभी छिपा है।

हमारे सम्मुख क्षितिज अनंत हैं। आनेवाली उषाएं अनंत हैं। अनंत क्रम में पृथ्वी की ओर बढ़ रही हैं। तब कैसे कहें कि कल की उषा के बाद आनेवाली उषा में गुण, प्रभाव, ज्ञान, शक्ति, सामर्थ्य आदि क्या-क्या होंगे, और यह पूर्ण संभव है कि आगामी उषाओं में पार्थिव जीवन को, मानव प्रकृति को रूपांतरित करने की, उसे दिव्य बनाने की आवश्यक सारी सामर्थ्य, शक्ति एवं संभावनाएं निहित हों !

विकास-पथ अनंत है। सभी क्षेत्रों में संभावनाएँ अनंत हैं। यहाँ सब कुछ अनंत है। हर कण में अनंत संभावनाओं को धारण किये एक अनंत सत्ता विराजमान है। हे मानव ! उस अनन्त को सीमाओं में मत बांध ! कभी न कह कि वह अनंत सत् इतना मात्र है, यही कर सकता है, इससे अधिक नहीं। उस अनंत को सीमाओं में बांधने का अर्थ होता है मिथ्यात्व में हमारा प्रवेश। सत्य-स्थिति से बहिर्गमन।

शृणवन्तु

संसार में, प्रभु की इस आत्म-अभिव्यक्ति में, कोई भी वस्तु, कोई भी ज्ञान-सूत्र अपने-आपमें पूर्ण नहीं है, न चरम सत्य है, न उस अनंत को, अनंत ज्ञान, चेतना और सत्य को अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता रखता है, या सीधे तौर पर अभिव्यक्त करता है। स्तर भेद से हर वस्तु, हर ज्ञान-सूत्र अपने स्थान पर, अपने ढंग से परम सत्य को आंशिक रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। अभिव्यक्ति के प्रति हमारी धारणा ठीक वही नहीं होती, जो इसके मौलिक स्वरूप के विषय में होती है। कम से कम जब तक वस्तुओं और प्राणियों को देखने की हमारी दृष्टि मानसिक है, और हम उसका अतिक्रमण नहीं करते, तब तक सृष्टि को और इसके पीछे छिपे प्रभु के विधान को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। सृष्टि प्रभु की आत्म-अभिव्यक्ति का एक स्तर है। इसकी रचना अद्भुत है। इसे ठीक-ठीक केवल वे ही देख तथा समझ सकते हैं, जो आत्मा में स्थित हैं और आत्मा की दृष्टि से देखने में समर्थ हैं। प्रभु का अपना विधान, अपना ज्ञान, उनकी अपनी चेतना शक्ति इसमें कार्यरत है। आत्म-अभिव्यक्ति का उनका अपना चुनाव, अपना ढंग है। इसमें असीम सीमित हुआ है। अनाम-अरूप ने नाम-रूपमय पदार्थों का आवरण ग्रहण किया है। निराकार आकारों में

विभक्त है और यह सब वह निराकार रहते, अविभक्त एकत्व में स्थित रहते हुए करता है। इसके अतिरिक्त सृष्टि-विकास-क्रम की वर्तमान अवस्था, जिसे कि हम अज्ञान तथा अपूर्णताओं से भरपूर देख रहे हैं, उस दिव्य अस्तित्व को, उसकी परिपूर्णता को– जो कि इसका मूल उद्गम है– अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया में है, उसी की ओर अग्रसर है। जगत का वर्तमान रूप अभिव्यक्ति का अंतिम एवं परिपूर्ण स्वरूप नहीं है।

अपनी स्वाभाविक दृष्टि में हम देखते हैं कि हम सब स्वतंत्र हैं। अपनी इच्छा में, संकल्प में, कर्म, विचार, भाव, क्रिया-प्रतिक्रिया, सबमें स्वतंत्र हैं। हम जो चाहें करें। हम सब इस विचार से सहमत हैं कि मैं कोई हूँ और कुछ कर सकता हूँ। अपनी सीमा के अंदर हम सबकी अपने प्रति यही धारणा है। किन्तु जब हम दूसरे स्तर पर उठते हैं तो हमारी धारणा परिवर्तित हो जाती है। हमें यह सब एक महान सत्य का आंशिक रूप दिखायी देता है और इससे ऊँचा, इससे गहन सत्य यह है कि सृष्टि में किसी पदार्थ अथवा प्राणी का पृथक् अस्तित्व नहीं है। सब का मूल एक है। एक एकत्व के सूत्र में, माला में मनकों की भांति हम सब बंधे हैं। जो मनोविज्ञान में गहरे उतरे हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभूति उपलब्ध की है, शास्त्रों का अध्ययन किया है वे सब इस तथ्य को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं कि वास्तव में हमारा अस्तित्व पृथक् नहीं

है और जो भी हम करते हैं वह हम करते नहीं, हमारे द्वारा कराया जाता है। विश्व शक्तियाँ सब करती हैं। जगत-प्रवाह के पीछे भागवत संकल्प है। प्रभु ही दिशा निर्धारित करते हैं, वे ही इसका गंतव्य निर्दिष्ट करते हैं। कोई भी इसमें परिवर्तन नहीं ला सकता। सब पहले से देखा होता है, अनुमति प्रदान की होती है, मुहर लग चुकी होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने इस सत्य को त्रिगुण का आधार प्रदान कर प्रतिपादित किया है। गीता के दृष्टिकोण से गुण ही गुणों में बरतते, सब करते-कराते हैं। जिनके पीछे भागवत संकल्प होता है। वही उनका प्रेरक-चालक है। लेकिऩ यह एक अति गहन सत्य है, उच्च अतिमानसिक स्तर का सत्य है, जो इस समय हमारी मानसिक चेतना के लिए अबोधगम्य है, अप्राप्य है और जब तक हम अपनी सीमित चेतना की परिधि में बंद हैं, व्यक्तित्व से बंधे हैं तब तक यह सत्य हमारे लिए एक अविश्वसनीय वस्तु है, अव्यावहारिक तथ्य है। हम इसे शीघ्रता से स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं होते। आज हमारे लिए यह समझना कठिन है कि सारी सृष्टि परमात्मा का एक कर्म है, आत्म-अज्ञान से आत्म-ज्ञान की ओर, जगत-रूप वर्तमान अदिव्य अभिव्यक्ति से दिव्य मूल उद्‌गम की ओर यात्रा है।

अन्य शास्त्र इसका निरूपण अन्य ढंग से करते हैं। वे व्यक्ति और जगत के पीछे केवल एक इच्छा को देखते हैं और

उसे ही सब कर्मों का, सब प्रारंभों का, यहाँ तक कि मनुष्य के पुनर्जन्म का मूल कारण भी इसी इच्छा को मानते हैं। कुछ आचार्य यह सब माया की प्रवृत्ति मानते हैं और सब कर्मों का संचालन उसी के द्वारा स्वीकार करते हैं। वे इस नाम-रूपमय जगत को मिथ्या प्रपंच, क्षणभंगुर, अस्तित्व-विहीन बताते हैं। "जो हमें दिखायी दे रहा है, वह सत्य नहीं है, सब मिथ्या है, माया है। यह हमारी प्रतीति है। जगत हमें भासता है, वास्तव में यह है नहीं।" हम यह सब सुनते हैं, पढ़ते भी हैं लेकिन कोई हमारे अंदर यह सब सुनकर असंतुष्टि अनुभव करता है। जगत माया है, इसका अस्तित्व नहीं है, यह केवल प्रतीति है, यह है नहीं, यह सब जब हमारे श्रवण-पथ से हमारी अंतर्सत्ता में प्रवेश करता है, कुछ हिल उठता है, हम बेचैनी अनुभव करते हैं, कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है। हमारा अंतर उसे अस्वीकार करता प्रतीत होता है। हम घुटन अनुभव करते हैं। आज चिंतनशील व्यक्ति की यह समस्या है। हमें इसका कारण खोजना होगा। वह समाधान प्राप्त करना होगा– चाहे कितने भी कष्टपूर्ण प्रयास के द्वारा प्राप्त हो– जो हमारी आंतरिक सत्ता के साथ समस्वर हो, जिसे प्राप्त कर वह हर्षित हो उठे।

मानसिक संतुष्टि सब कुछ नहीं है। हमें बौद्धिक स्वीकृति को अंतस्थ आत्मा की स्वीकृति समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। बौद्धिक स्वीकृति एवं अंतस्थ आत्मा की स्वीकृति दो

भिन्न वस्तुएँ हैं। उनके स्तर भी भिन्न हैं। हमें बौद्धिक दृष्टि, बौद्धिक संतुष्टि, बौद्धिक निर्णय को सर्वोच्च, गहनतम, आंतरिक सत्य की अभिव्यक्ति नहीं समझना चाहिये। मन-बुद्धि हमारे यंत्र हैं। हमें यंत्रों की नहीं, अपने सच्चे स्वरूप की, अपनी अंतर्सत्ता की संतुष्टि की दिशा में खोज प्रारंभ करनी होगी। हमारी बुद्धि अगर किसी सिद्धान्त को स्वीकार करती है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हमारी अंतर्सत्ता भी उसे मान्य करती हो। हमें आत्म-सत्य को पाना होगा, उसे ही सत्ता में सर्वोपरि स्थान प्रदान करना होगा। उसी के निर्णय पर, उसी के चुनाव पर निर्भर करना सीखना होगा। आचार्यों के बहुत पहले हमारे पूर्वज हमें जो दिशा प्रदान कर गये, जो ज्ञान का स्तर उन्होंने हमारे सामने विस्तृत किया, आत्म-ज्ञान की जिस ऊँचाई की ओर उनका इंगित है, जिस सत्य में युगों तक वे निवास करते रहे, वह ज्ञान, वह वेद, जो परमात्मा की सीधी वाणी उनके शुद्ध हृदय में अवतरित हुई, हम उसे नहीं बिसरा सकते, उसे उठाकर एक ओर नहीं रख सकते, उसे अमान्य नहीं कर सकते। अगर हमारी दृष्टि में और उनकी दृष्टि में भेद है, इसका अर्थ होता है कि हमारा चेतना-स्तर ठीक वही नहीं है, जिस स्तर पर वे निवास करते थे। जहाँ परमात्मा प्रसन्न होते हैं, मानव-आत्मा और अपने बीच के व्यवधान को सदा के लिए क्षीण कर देते हैं। जहाँ आत्म-ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश

सीधा मानव चेतना पर पड़ता है और बीच में किसी भी प्रकार की सीमा का, अज्ञान-अंधकार के मेघों का होना संभव नहीं। जहाँ वे हमारी आत्मा में प्रकट होते हैं, हमारी सत्ता को अपने हाथ में लेते हैं और उसे यंत्र बनाकर संसार के लिए अपनी अमृत-वाणी का उद्घोष करते हैं। अजन्मा, अनादि वेद को प्रकट करते हैं।

हमें अपनी खोज में अभी और ऊँचा उठना है, और गहरा जाना है। हमें वहाँ पहुँचना है, जिस स्तर से हमारे पूर्वजों ने, ऋषि-मुनियों ने इस सृष्टि को देखा, जहाँ से यह स्पष्ट दिखायी देता है कि यह सब परम सत्ता की सत्य अभिव्यक्ति है। जगत अपने आपमें अभिव्यक्ति-रूप सत्य है।

आचार्यों का दृष्टिकोण सीमित है, सीमित चेतना-पट पर अवतरित ज्ञानानुभूति है। हमें सत्य का एक पक्ष दर्शाया गया है। अगर हम समग्र आत्म-ज्ञान की दृष्टि से देखें, प्रपंच-रूप दृश्य जगत के भीतर झांकें, उसके पीछे जायें, तो हमें स्पष्ट दिखायी देगा कि जगत, मिथ्या आकारों का, छाया के बने रूपों का संघटन मात्र नहीं है। वरन् इसके पीछे आत्मा का, एक दिव्य पुरुष का, दिव्य संकल्प विद्यमान है। हम देखेंगे कि सृष्टि एक पूर्ण, समग्र, दिव्य अस्तित्व की अपूर्ण, आंशिक अभिव्यक्ति है, जो अपने मूल स्वरूप की पूर्णता की ओर क्रमिक रूप में विकसित हो रही है। इसके पीछे उन जगदीश्वर का संकल्प है

जो यहाँ अपने-आपको अभिव्यक्त कर रहा है। मूर्त रूप में प्रकट हो रहा है। इसके पीछे अथवा भीतर अन्य कोई शक्ति या संकल्प नहीं है। हम देखेंगे कि अभिव्यक्ति का भी अपना, अपने ढंग का सत्य है। हम जिसे व्यक्ति कहते हैं जिसके अंदर एक विकासोन्मुखी आत्मा है, और जो स्वयं इस आत्मा का ही आवरण है, यंत्र है, उसका भी अपना सत्य है, वह अभिव्यक्तिरूप सत्य है। भले ही यह सत्य उतना मौलिक नहीं होता, जितना कि यह अपने मूल में है, जिसकी यह अभिव्यक्ति है, जिसपर यह निर्भर है, जो इसका आधार है, उद्‌गम है।

अध्यात्म शिक्षा के कुछ स्कूलों में यह शिक्षा दी जाती है कि तुम शरीर नहीं हो, तुम आत्मा हो। अस्तु। हमें मान्य है। क्योंकि यह कथन एक महान सत्य की अभिव्यक्ति है। किन्तु अनुभव कहता है कि इस शिक्षा के प्रभाव में आकर बिना इस सत्य की उपलब्धि किये, बिना स्तर-भेद का विवेचन किये, कभी-कभी कुछ शिष्य-गण जीवन में किंचित अमानुषिक कर्म और व्यवहार कर सकते हैं, जो सामाजिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं होते। परिणामतः समाज ऐसे व्यक्तियों को, अपने घेरे से बाहर कर देता है।

हमें इस तथ्य को बार-बार अपने सामने रखना है, इसे भूलना नहीं कि आध्यात्मिक शिक्षा जगत के उद्धार हेतु होती है और होनी चाहिये। उसमें मानव-मंगल, जग-मंगल निहित

होना चाहिये। मानव के सभी प्रश्न, सब शंकाएं, सब समस्याएं हल होनी चाहियें और फलस्वरूप जीवन में स्थायी शांति, उत्थान और पूर्णता आनी चाहिये। अगर ऐसा नहीं है वरन् इसके विपरीत जगत के अस्तित्व को ही नकारा जाता है तो हमें सावधान हो जाना है, शायद हम किसी वाग्जाल में फंसने जा रहे हैं। कारण अगर स्वयं शिक्षक ही अपने और जगत के अस्तित्व को नकारता है, सब मिथ्या और माया कहकर हमें जगत का स्वरूप समझाता है तो ऐसी स्थिति में समाज को उससे किसी सहायता की अथवा उद्धार की क्या आशा है ? एक गुरु, जिसका अस्तित्व नहीं है, जो एक कल्पित माया है, माया की कल्पित रचना है, जो केवल भासित हो रहा है, वास्तव में है नहीं, मिथ्या संसार की, जो कि उसके अनुसार वास्तव में है नहीं, मिथ्या समस्या का अपने मिथ्या ज्ञान के द्वारा, जो कि मिथ्या मन की उपज है, मिथ्या समाधान प्रदान करने की मिथ्या चेष्टा कर रहा है। उसके ज्ञान से संसार का क्या उपकार हो सकता है ! जो है ही नहीं, केवल भासता है, प्रतीति मात्र है, वह किसी की क्या सहायता कर सकता है। जब पथ-प्रदर्शक और अनुयायी दोनों का होना भ्रम है, मिथ्या है तो किसकी समस्या और किसका समाधान ! हम दुहराते हैं– जो शिक्षा यह बताती है कि मैं नहीं हूँ, तुम नहीं हो, जगत नहीं है, उस शिक्षा के द्वारा किसका उद्धार हो सकता है! जहाँ

उद्धारक तथा जिसका उद्धार होना है दोनों ही मिथ्या हैं, वहाँ किसी प्रकार के समाधान की संभावना का होना असंभव है। जगत को मिथ्या, माया कहना, उसकी समस्या का समाधान नहीं है, वरन् समस्या के साथ जिसकी समस्या थी उसे समाप्त करना है। महर्षि रमण से विनती की गयी कि प्रभु कुछ कीजिये, संसार अत्यंत दुखी है, मनुष्य बहुत कष्ट पा रहे हैं, कुछ उपाय बताइये ! महर्षि ने हँसते-से कहा– "लेकिन दुख-कष्ट कहाँ है! कौन है दुखी !" कोई हो तो उसके सुख या दुख का प्रश्न भी उठे। उनके अनुसार– यहाँ तो कोई है ही नहीं, न संसार न प्राणी। सब माया है, मिथ्या भासता है। दीर्घकाल तक मानव-जाति के सामने दर्शन की यह समस्या, यह गुत्थी उलझी ही रही। वैदिक काल के पश्चात् जो भी समाधान मनुष्य को प्रदान किये गये उनमें उसकी आत्मा असंतुष्ट रही। उसे आंतरिक रूप से स्वाभाविक शांति, संतुष्टि नहीं मिली।

इससे यह सिद्ध होता है कि कहीं कोई भूल है। वस्तुएं अपने स्थान पर नहीं हैं। हर वस्तु अपने स्थान-विशेष पर ही शोभा देती है। परम चेतना के भी स्तर हैं। आध्यात्मिक व्यक्ति को जगत के साथ तथा दूसरी ओर, आत्मा के साथ संतुलन बनाये रखने के लिए इन स्तरों के भेद का ज्ञान उपलब्ध करना अनिवार्य है। हर वस्तु का सही स्थान खोजना मानव जीवन की

बहुमूल्य कला है। एक महान उपलब्धि है। श्रीअरविंद की शिक्षा में हम देखते हैं कि उनका दर्शन वेद पर आधारित है, उन्होंने वेद-प्रतिपादित ज्ञान को, उसके अतिमानसिक सिद्धान्त को इतने सुंदर, सरल ढंग से प्रतिपादित किया– मानों अनादि वेद-वृक्ष नये स्वरूप में, अपनी ज्योतिर्मय शाखाओं के साथ, स्वर्णिम पुष्पों एवं पल्लवों सहित विकसित हो उठा हो। उनके द्वारा मानव सत्ता के, जगत सत्ता के तथा परम अस्तित्व के स्तरों का निरूपण लख कर कोई भी कहेगा कि उन्होंने परम सत्य का साक्षात् किया है, उसमें अपना निवास स्थायी बनाया है, उसमें डुबकी लगायी, उसका परीक्षण किया है। कारण, अपने प्रतिपादन में वे कहीं भी, लेश मात्र भी वेदों से दूर नहीं हैं। उनके कथन में कहीं भी विरोधाभास नहीं है। वे पूर्णतया अपने सिद्धान्त में आदि से अन्त तक वेदों के साथ सहमत हैं, वैदिक ज्ञान को परम सत्य मान कर स्वीकार करते देखे जाते हैं। उनका सृष्टि-विकास-क्रम संबंधी सिद्धान्त वेद प्रतिपादित है। उसके सोपानों का उनका विवरण सराहनीय है। वैदिक सत्य के, उसके सिद्धांत के अनुरूप है। वहाँ किसी प्रकार की भ्रांति की कोई संभावना नहीं है। हम एक-एक करके सब स्तरों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। मानों परम सत्ता की गहराई में उतरने के लिए और उसके शिखरों पर चढ़ने के लिए सोपान मिल गया है। उनका ज्ञान प्राप्त करना ही वह साधन है जिसके

द्वारा हम अपनी व्यक्तिगत तथा समाजगत सत्ता के स्तरों को नियंत्रित, व्यवस्थित तथा रूपांतरित कर सकते हैं। इसी प्रकार दूसरी ओर, आत्मा के साथ उसके शिखरों पर तादात्म्य लाभ कर, हम विश्व-पुरुष के संकल्प का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उसे यहाँ अपने तथा जगत के जीवन में चरितार्थ कर सकते हैं और फलस्वरूप सब सुखमय बना सकते हैं। विश्व-पुरुष के साथ तादात्म्य लाभ करना हमारी सत्ता की पूर्णता में, मानवता का स्तर ऊँचा उठाने में एक अनिवार्य चरण है। संसार का रूपांतर, उसका दिव्यीकरण आज संभव है। रूपांतर में ही वर्तमान युग की सब समस्याओं का समाधान प्राप्त करना संभावित है।

वेदों में 'महः' अथवा विज्ञान लोक ही भागवत चेतना का वह स्तर है जिसे श्रीअरविंद ने अतिमानस नाम प्रदान किया है। उपनिषदों में 'सत्यम्-ऋतम्-बृहत्' कह कर जिस विज्ञानमयी चेतना को संबोधित किया है, उसे ही श्रीअरविंद ने अतिमानस संज्ञा प्रदान की है। अतिमानस के द्वारा मानव का, उसके जीवन का रूपांतर संभव है। यह एक वेद प्रतिपादित विषय है और व्यक्तिगत रूप से वैदिक ऋषियों के द्वारा अनुभूत तथ्य है। श्रीअरविंद आज संसार की दृष्टि में पूजनीय हैं, इसका एक कारण यह भी है कि उन्होंने अतिमानस की इस उपलब्धि को सामूहिक रूप प्रदान किया है। अतिमानस का अवतरण पार्थिव चेतना में, पृथ्वी के वातावरण में संभव बनाया है। जो व्यक्ति इसकी ओर उद्घाटित होंगे

उनमें अतिमानसिक शक्ति कार्य करेगी और उनकी संपूर्ण सत्ता आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित होगी। रूपांतरित व्यक्ति ही उनके दर्शन में अतिमानव है। अतिमानव, मानव जाति में से ही विकसित होगा। उसका अपना उच्च, दिव्य, आत्मा की ज्योति में रूपांतरित स्वरूप होगा। मानव जाति में से अतिमानव जाति का प्रादुर्भाव अवश्यंभावी घटना है। यह सृष्टि-विकास-क्रम में अगला चरण है।

"नया जगत उत्पन्न हो चुका है। क्या तुम सहयोग प्रदान करोगे!" – श्री माताजी

हमें मन के परे, प्रेरणाओं के जगत में प्रवेश करना आना चाहिये। हमारी सारी सत्ता में उसके अनुरूप उद्घाटन होना चाहिये। विचारों की नीरवता, उनमें पवित्रता इसमें आधारभूत स्थितियाँ हैं। संस्कारों की छाप से मुक्त हुए बिना कोई मन प्रेरणाओं को सीधी, उनके अमिश्रित रूप में ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकता। अन्यथा मिश्रण होने की संभावना रहती है। जो प्रायः ही देखने को मिलती है। उच्च असीम चेतना की अभिव्यक्ति हमारी मानसिक चेतना की सीमा के कारण सीमित हो जाती है।

मानसिक चेतना से बाहर आयें, अतिचेतन स्वर्णिम नभ से ज्ञान-रूपी बूँदें टपक रही हैं उनको ग्रहण करें। मानवता से ऊपर अतिमानवता में उठने में हमारे लिए सहायक सिद्ध होगा।

समय के साथ

इस सारी सृष्टि के पीछे हम एक भागवत संकल्प देख रहे हैं, जो अपनी क्रिया-अभिव्यक्ति में दिव्य है तथा एक अंतर्वेग के रूप में स्थित है और सतत भाव से वस्तुओं और प्राणियों के भीतर छिपी दिव्यता को धरती के जीवन में प्रकट करने का प्रयास कर रहा है। यही सृष्टि में, परम पुरुष की इस आत्म अभिव्यक्ति में पदार्थों की भावी नियति है।

सृष्टि में इसकी प्रथम अभिव्यक्ति पृथ्वी के रूप में हुई। वनस्पति, पशु-पक्षी उसकी द्वितीय अभिव्यक्तियाँ हैं। इस विकास शृंखला में अब तक अंतिम कही जाने वाली वस्तु मनुष्य है। मनुष्य विचारशील प्राणी है, विचार करने की क्षमता को साथ लेकर पृथ्वी पर आता है। जैसे ही वह युवावस्था को प्राप्त होता है और अपने बौद्धिक नेत्रों को खोलकर अपने चारों ओर जगत को निहारता है, वह यही समझता है कि जगत इतना मात्र ही है और सुख-भोगों की सामग्रियाँ ही यहाँ की उपलब्धियाँ हैं। यही जीवन है— जन्म ग्रहण करो, जीवन को भोगो और चले जाओ। कहाँ चले जाना है, जहाँ से आये थे। कहाँ से आये थे, निश्चयपूर्वक कहना किसी के लिए संभव नहीं। शास्त्र अवश्य हमारी हर जिज्ञासा का उत्तर प्रदान करते प्रतीत होते हैं। लेकिन उनकी हर बात शत-प्रतिशत सत्य है, हमारे वर्तमान जीवन और विकास के अनुरूप है, उसमें अनिवार्य रूप से

सहायक होगी, उनका पथ-प्रदर्शन हमारे इस युग में भी उसी प्रकार लाभप्रद होगा– जैसा कि तब था जब वे लिखे गये, जब मानव आत्मा में उनका अवतरण संभव हुआ था– निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। फिर शास्त्रों में विरोधाभास भी पाया जाता है। हम कह सकते हैं कि उनकी अपूर्णता ही इसमें कारण है। कोई भी शास्त्र अपने आपमें पूर्ण नहीं हो सकता। कारण, ज्ञान अनंत है। वह किसी एक शास्त्र में नहीं समा सकता। दूसरी ओर, सृष्टि अपने आपमें एक विकासोन्मुखी प्रक्रिया है। उसकी बढ़ती हुई विकास-धारा के अनुरूप ही, उसके पथ-प्रदर्शन में भी विकास होना अनिवार्य है। मानवता के विकास के साथ हमारे दर्शन में भी वृद्धि होनी चाहिये। युग के साथ युग धर्म भी बदलता है। दृष्टिकोण परिवर्तित होते हैं। यह अनिवार्य नहीं कि अपने आचार्यों की भांति हम भी जगत और जीवन को मिथ्या, माया समझें, स्वप्न रूप ही मानें। हमारा अनुभव और आगे जा सकता है, और ऊँचा उठ सकता है। हमारा दृष्टिकोण और अधिक विशाल हो सकता है और यह संभव है कि हम जगत को मिथ्या न देखकर, मिथ्या न कह कर आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में अनुभव कर सकें, उसे प्रभु के लीला-धाम के रूप में देख सकें। ऐसी स्थिति में उसमें पूर्णता लाने की अभीप्सा हमारे हृदय में जाग्रत हो सकती है। हर क्षेत्र में नये तत्वों का अनुसंधान करने का, साथ ही कुछ प्राचीन तत्वों का त्याग और उनके स्थान में नये तत्वों का संमिश्रण करने का भाव

हमारे अंदर उठ सकता है, यह तर्क संगत है। जगत-जीवन को नया रूप प्रदान करने के लिए उसे सीधी अभिव्यक्ति बनाने के लिए हमें किसी नयी चेतना को, किन्हीं नई शक्तियों को खोजना, उनका अनुसंधान करना, उन्हें विकसित करना होता है। मानव आत्मा की हर अभीप्सा का उत्तर शास्त्र नहीं दे सकते। कारण, शास्त्र सीमित हैं। उनके विवरण एक सीमा के अंदर हैं और इसके विपरीत मानव आत्मा की अभीप्सा की कोई सीमा नहीं। हम उसे सीमित नहीं कर सकते। सृष्टि-विकास-प्रक्रिया अनंत है। उसकी संभावनाएँ अनंत हैं। अतः हर प्राप्ति के लिए पथ-प्रदर्शन की आशा हम शास्त्रों से नहीं कर सकते। हर नये तत्व की खोज के लिए, उसकी जानकारी के लिए, उसके विस्तृत विवरण के लिए हम शास्त्रों के सीमित ज्ञान पर निर्भर नहीं कर सकते। चाहे शास्त्र कितना भी प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन – वह सीमित होता है। उसके अंदर हर वस्तु की, विवरण की, तत्व की सीमा है। उसके पीछे काल-सीमा है, आकार-सीमा है, यंत्र की क्षमता-सीमा है, वर्णन कर्त्ता जिसके द्वारा सोचता है, जिन शब्दों में वर्णन करता है, भाषा में चरितार्थ करता है, सब सीमित है। काल की जिस विशेष गति में, एक शास्त्र विशेष लिखा जाता है या उसकी शिक्षाएँ उच्च स्तरों से अवतरित होती हैं, वे उसी काल -विशेष के लिए उपयुक्त होती हैं। वेदों की, श्रुतियों की बात भिन्न है। वे मानसिक रचना नहीं हैं। बौद्धिक शिक्षा मात्र नहीं हैं। वे उस मूल सनातन ज्ञान के विग्रह हैं जो

अपरिवर्तनशील है, सदा एकरस रहता है और सृष्टि में दूसरी सब ज्ञान-धाराएँ जिसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। समय के साथ जगत आगे बढ़ता है, मानव आत्मा विकास लाभ करती है, जीवन के प्रति उसके भाव, उसका दृष्टिकोण परिवर्तित होता है, वह वस्तुओं और प्राणियों में छिपी दिव्यता को प्रकट करना चाहती है। इस स्थिति के लिए, इस नयी उपलब्धि के लिए, पर्याप्त ज्ञान, प्रेरणा तथा पथ-प्रदर्शन प्राचीन शास्त्रों में उसे उपलब्ध हो यह अनिवार्य नहीं। कारण, ज्ञान अनंत है वह अपनी अभिव्यक्ति में कभी समाप्त नहीं होता। शास्त्र उसे अधिक से अधिक कुछ सूत्रों में ही व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं– संक्षेप में, बीज रूप में ही कर सकते हैं। जिसका मूल सत्य वही रहते हुए भी भाव, व्यावहारिक रूप समयानुसार परिवर्तित, वर्धित और विकसित होता रहता है और होता रहना चाहिये। कोई भी शास्त्र अनंत ज्ञान राशि को उसकी समग्रता में धारण कर सके यह असंभव है। किसी भी शास्त्र में, समग्र आत्म-ज्ञान अपने अनंत विग्रह में नहीं समा सकता, धारण नहीं किया जा सकता। अगर वह धारण किया जा सके तो वह अनंत नहीं, असीम नहीं, वह एक सीमित वस्तु है। हम अनंत अस्तित्व को सीमाओं में नहीं बांध सकते। अनंत ज्ञान-सिंधु को मानसिक परिधि में धारण नहीं कर सकते। उसके विश्लेषण का प्रश्न तो दूर की बात है। शास्त्र स्वयं घोषणा करते हैं कि परम ज्ञान मन का, विचार का, वाणी का विषय नहीं है।

भाषा भी उसे नहीं बांध सकती। एक सीमित शास्त्र में उसकी संपूर्ण अभिव्यक्ति असंभव वस्तु है।

हम यह सब कहने की प्रेरणा इसलिए प्राप्त कर रहे हैं क्योंकि हम देख रहे हैं कि एक ओर मनुष्य ने जीवन को इतना वैभवपूर्ण बना दिया है, बहुत सी असंभव प्रतीत होने वाली प्राप्तियों को संभव कर दिया है। महान ऊर्जाओं पर नियंत्रण प्राप्त किया है। दूसरी ओर, वह अपने स्वभाव की तुच्छ-सी दुर्बलताओं से पराजित है, विचार की परिधि में बंद है, वह अभी भी व्यक्तिगत, जातिगत तथा धार्मिक सीमाओं का, रूढ़िगत परम्पराओं का अतिक्रमण करने में असमर्थ है।

हम अभिव्यक्ति की बात कह रहे हैं। परम आत्म-सत्ता में व्यक्ति चेतना का आरोहण अपने आपमें एक पूर्णतः पृथक् वस्तु है। दोनों में स्तर-भेद है। हम अनंत भागवत चेतना में आरोहण कर सकते हैं और जब हमारी चेतना परम आत्मा की किसी एक अवस्था के साथ तादात्म्य लाभ करती है तो वह तादात्म्य अपने आपमें पूर्ण होता है। हम वही बन जाते हैं। किन्तु उसी चेतना का पूर्ण अवतरण हमारे यंत्र धारण करने में समर्थ हो सकें यह अनिवार्य नहीं। संसार को नया रूप प्रदान करने के लिए हमें नई चेतनाओं में आरोहण करना होगा। उनका अवतरण अपनी सत्ता के हर भाग में तथा पार्थिव जीवन में संभव बनाना होगा।

ब्रह्म सत्यम्– जगत् सत्यम्

शास्त्रों के अनुसार एक अनादि अद्वितीय, अखंड परम सत्ता है, जिसे हम परमात्मा कह कर संबोधित करते हैं। वही जगत का मूल है। इसका उद्गम है। यह जगत उसी की अपने अंदर अपनी आत्म–अभिव्यक्ति है। उसने ही जगत का रूप लिया है, तात्विक रूप में सब वही है। सब उसी का विस्तार है। हमारे पूर्वज, ऋषि–मुनि जगत में सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करते थे। जगत को ब्रह्म–रूप देखते थे। उन्होंने जगत में आत्मा को, आत्मा में जगत को देखा था। उनकी घोषणा है कि जगत सत्य है, क्योंकि यह परमात्मा की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति का अपना सत्य, अपना स्वरूप, परमात्मा में अपना स्थान है। इसमें भागवत संकल्प क्रियारत है। यह उसी की चरितार्थता है। वही इसकी हर वस्तु में अंतर्निहित है। मनुष्य की मानसिक भाषा में कहें तो जगत भगवान की अपनी देह है और अगर हम आत्मा का अपना सत्य मानते हैं, जो कि मौलिक है, तो देह का भी अपना सत्य मानना होगा, जो कि अभिव्यक्ति–रूप सत्य है।

जगत परमात्मा की रचना है, परमात्मा के अंदर है, इसके कण–कण में परमात्मा का निवास है, वही वस्तु मात्र का मूल है। सब उसी से आया है और जो परमात्मा से आया है उसे हम मिथ्या नहीं कह सकते।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि मूल अस्तित्व एक परमार्थ तत्व है। जो भी आया है सब उसी से आया है। जो भी आयेगा सब उसी से आयेगा और उसी का स्वरूप, उसी की अभिव्यक्ति होगा। अगर हमें सृष्टि में, जो कि दिव्य पुरुष की आत्म-अभिव्यक्ति है, कुछ अदिव्य तत्व दिखायी दें तो इसका अर्थ है कि हम आवरण को भेद कर– जो कि लीला के लिए ग्रहण किया हुआ प्रभु का मुखौटा है– आंतरिक सत्य पर नहीं पहुँचे हैं। हमें और गहराई में जाना है, उस स्तर-विशेष को उपलब्ध करना है जहाँ से मूल सत्य को, उसके शुद्ध, अमिश्रित रूप में एक ओर, तथा सृष्टि-रूप आत्मा की इस अभिव्यक्ति को दूसरी ओर स्पष्ट रूप में देख सकें।

कुछ आचार्य अपने कथन में जगत को मिथ्या कहते हैं। इसके अस्तित्व का कारण माया को मानते हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्यों ने अपना मत स्थिर करने में कुछ शीघ्रता की है। अगर वे शीघ्रता न कर, धैर्यपूर्वक वस्तुओं और प्राणियों की सत्ता में और अधिक गहरे पैठते, उनका अंतरतम सत्य जानने के लिए गहनतम स्तर पर पहुँचते, तो हम पूर्ण विश्वास और उनकी सच्चाई में पूरी श्रद्धा रखते हुए कह सकते हैं कि वे भी उसी अनुभव पर पहुँचते, उनका अनुभव भी वही होता जिसकी घोषणा हमारे पूर्वजों ने, ऋषि-मुनियों ने की है। अनुभव की यह असमानता ही प्रमाणित करती है कि हमारी

अनुभूति का स्तर ठीक वही नहीं है, चेतना के जिस स्तर से ऋषियों ने जगत को देखा था। अगर आचार्यों की अनुभूति का स्तर ठीक वही होता जो वैदिक अथवा औपनिषदिक ऋषियों का था, तो वे जगत को मिथ्या न कह कर ब्रह्म की अभिव्यक्ति कहते, इसे ब्रह्म रूप देखते, ब्रह्म ही घोषित करते, "अयमात्माचतुश्पादः" "सर्वंखल्वमिदंब्रह्म," "ईशावास्यमिदंसर्वम्" का गायन गाते।

जैसे व्यक्ति का अपना सत्य है, एक विकासोन्मुखी आत्मा उसके हृदय में स्थित है, जो उसे धारण करती है ; अज्ञान में से हो कर ज्ञान की ओर ले जा रही है और जब तक व्यक्ति का जीवन और उसका आंतिरक तथा बाह्य व्यक्तित्व आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित नहीं हो जाते, वह कभी विश्राम की बात नहीं सोच सकती; वैसे ही जगत का भी अपना सत्य है। एक अनंत शाश्वत सत्ता इसे अपने अंदर धारण किये इसके मूल की ओर, उद्गम की ओर, उससे युक्त करने के लिए, उसमें रूपांतरित करने के लिए ले जा रही है। यही कारण है कि समय-समय पर दिव्य चेतनाओं के अवतरण विश्व में होते देखे जाते हैं और फलस्वरूप मिट्टी से वनस्पति, उसके पश्चात् पशु-पक्षी, तदनन्तर मनुष्य इस सृष्टि-विकास-क्रम में पृथ्वी पर देखा गया। इस संदर्भ में यहाँ इतना और कह देना असंगत न होगा कि वर्तमान मनुष्य विकास क्रम रूपी सोपान का अंतिम चरण नहीं हो सकता। मानव के पश्चात् किसी अतिमानव का मानव जाति में से विकसित होना

संभव है। श्रीअरविंद इसे एक ध्रुव सत्य मानते हैं। वे विश्व-विकास -क्रम को मनुष्य के साथ ही समाप्त नहीं मानते। उनके अनुसार विकास-क्रम की समाप्ति की, उसके अंत की बात सोचना भारी भूल होगी, ऐसा करना सनातन सत्य की अभिव्यक्ति रूप इस सृष्टि-विकास-क्रम के आंतरिक सत्य के विरुद्ध होगा। उनकी मान्यता है कि मानव के पश्चात् अतिमानव का आगमन अवश्यंभावी है। मानव विश्व-प्रकृति की एक अपूर्ण रचना है, एक दिन वह अपने पूर्ण विकसित रूप में सृष्टि-मंच पर आयेगा। उसका जीवन-स्तर अंतर्निहित आत्मा की दिव्यता में उठेगा, उससे ओत-प्रोत होगा, उसकी सीधी अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करेगा। उसका व्यक्तित्व आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित, उसकी ज्योति से ज्योतित, उसके अमरत्व के द्वारा विघटन-रहित होगा। मानसिक चेतना से ऊपर उठ कर, उसकी परिधि से बाहर आकर वह एक ज्योतिर्मय अतिमानसिक चेतना के द्वारा प्रेरित-चालित होगा। उसका निवास पूर्ण ज्ञान में, आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता में, उसके परम आनन्द में स्वाभाविक होगा। मानव के इस उच्च, दिव्य, रूपांतरित स्वरूप को ही श्रीअरविंद ने अतिमानव की संज्ञा प्रदान की है, जो कि संसार की भावी नियति है।

निस्संदेह आज हमें जगत अपने सतही रूप में, बाह्य स्तर पर मिथ्या भासता है। किन्तु यह केवल कल तक, कल आत्मा

के ऊपर से पर्दा हटते ही, अंतर्लोचन खुलते ही हमें वस्तु का सही सच्चा स्वरूप दिखायी देगा। हम आकार में निराकार को देखेंगे, पदार्थ में आत्मा की सही स्थिति हमारी समझ में आयेगी कि क्यों और कैसे उसने लीला के लिए पदार्थ के रूप में उस मुखौटे को धारण किया है। दूसरी ओर, केवल सतही दृश्य, वस्तु का पूर्ण सत्य नहीं होता। हम केवल बाह्य रूप को पूर्ण पदार्थ मान कर नहीं चल सकते। इस आधार पर निर्मित धारणा मिथ्या होगी। हमारे सिद्धांत पूर्णतः युक्तिरहित होंगे। आगामी ज्योतिर्मय मन-बुद्धि के लिए अमान्य रहेंगे।

मैंने प्रभु-चरणों में अपना प्रणाम निवेदित किया। प्रार्थना की। दर्द-भरी आवाज में उसे पुकारा। हे दयानिधे ! कब इस धरती पर तेरी शांति सबको सुलभ होगी ! कब पृथ्वी के वातावरण से क्रोध जायेगा ! कब हिंसा का स्थान प्रेम ग्रहण करेगा और मनुष्य शत्रुता के भाव से ऊपर उठेगा !

हे प्रभो ! ऐसी कृपा कर कि पृथ्वी का जीवन शांतिमय हो। मानव-हृदय सदा के लिए हिंसा के भाव से मुक्त हो। वह प्रेम का अर्थ समझे। उसकी देन को जीवन में सर्वोच्च स्थान प्रदान करे। इसके लिए अगर आवश्यक हो तो मैं अपने सर्वस्व का बलिदान करने को तैयार हूँ।

अतिमानसिक विकास

श्रीअरविंद के योग का लक्ष्य है मनुष्य की सत्ता का पूर्ण रूपांतर। उसके निम्नतम भाग उसके शरीर का भी आत्मा की दिव्यता में दिव्यीकरण। यह स्वाभाविक ही है कि हम आज इसमें विश्वास न करें। मनुष्य अपनी सीमाओं के बाहर, उनके परे वस्तुओं को नहीं देख सकते। जीवन-मार्गों पर चलने के लिए उनके पास केवल मानसिक दृष्टि है और वह अपने आपमें सीमित है। जो चीजें भविष्य के गर्भ में हैं, संसार में अभी अभिव्यक्त नहीं हुईं – किन्तु जिन्हें अभिव्यक्त होना है – उन्हें वह नहीं देख सकता। यहाँ यह विचारणीय विषय है कि जिन वस्तुओं ने मानव-जीवन के स्तर को ऊँचा उठाया, उसे सुख-सुविधाओं से सजाया, जिनके द्वारा वह आकाश में उड़ सकता है, समुद्र की गहराई में निवास कर सकता है, अपने घर में बैठ कर पृथ्वी के हर कोने को, उसकी हर क्रिया-विधि को देख और जान सकता है, जिनके द्वारा प्राकृतिक ऊर्जा पर नियंत्रण किया, उसको उपयोग में लाया– उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति से पहले उन पर विश्वास नहीं किया गया था। हम विश्वास करें अथवा न करें, जगत एक प्रवाह है और वह सदा आगे बढ़ता है। एक अंतर्वेग वस्तुओं के भीतर निहित है और वह अपने आपको अभिव्यक्त कर रहा है। बीज के अंदर जो

संभावनाएँ हैं वे विकसित होंगी ही। सृष्टि आत्मा की अभिव्यक्ति है। आत्मा का हर गुण सृष्टि में अभिव्यक्त होगा। यह जगत एक विकास-क्रम के रूप में उत्पन्न हुआ है। विकसित होना इसका स्वभाव है। अनंत संभावनाओं से भरपूर आत्मा इस सृष्टि का उद्गम है। अतः सृष्टि-विकास-क्रम की सीमा नहीं हो सकती।

हमें बताया गया है, और हमारा अनुभव भी यही कहता है कि वर्तमान मनुष्य अपने आपमें प्रकृति की पूर्ण रचना नहीं है, जिसे हम आज मनुष्य कहते हैं वह अपनी पूर्ण सत्ता का केवल एक आंशिक, सतही भाग है और उसकी सत्ता का एक बहुत बड़ा भाग, एक अधिक मूल्यवान अधिक महत्वपूर्ण भाग अभी उसकी पहुँच के परे है। जब मनुष्य अपनी संपूर्ण सत्ता के विषय में सचेतन हो जायेगा, वह देखेगा कि वह एक क्षुद्र प्राणी नहीं है, प्रकृति के हाथ का खिलौना नहीं है। वह भूत और भविष्य को देखने की दृष्टि से वंचित नहीं हैं वरन् इसके विपरीत उसकी सत्ता में ऐसे भाग हैं– और वे उसकी सत्ता के अपने अंग हैं– जो संसार में सर्वत्र कार्य कर सकते हैं, घटनाओं में हस्तक्षेप कर सकते हैं। उन्हें दूसरा रूप प्रदान कर, उनकी दिशा को परिवर्तित कर सकते हैं। एक सर्वशक्तिमान संकल्प जगत के पीछे क्रियाशील है, जिसका विरोध करने की सामर्थ्य किसी शक्ति में नहीं है और अगर हम चाहें इस संकल्प के साथ अपना तादात्म्य सतत बनाये रख सकते हैं। किन्तु ये सब अलौकिक क्षमताएँ, हमारे अस्तित्व की दिव्यताएँ अभी

हमारी पहुँच के परे हैं और हमें तब तक प्रदान नहीं की जा सकतीं जब तक हम अपनी वर्तमान अहंमय सीमाओं से बाहर नहीं आते। एक बार जब हम अपनी स्वाभाविक सीमाओं से बाहर आ जायेंगे, हमारा प्रवेश अपने सच्चे व्यक्तित्व में संभव हो जायेगा, हम अपने आपको विश्व-पुरुष के रूप में देखेंगे और विश्व की हर वस्तु, हर प्राणी हमारी सत्ता का अपना अंग होगा, हमारे अंतर्गत होगा। हम मनुष्य की अज्ञानजनित सीमित चेतना से सर्वथा मुक्त होंगे और आत्मा की विशालता में, उसकी अनंतता में निवास हमारे लिए स्वाभाविक स्थिति होगी। तब तक हमें चाहिये कि विश्व के पीछे जो शक्ति क्रियारत है, इसे इसके रूपांतर के लिए तैयार कर रही है और इसमें छिपी दिव्यता को इसके रूपों में प्रकट करना चाह रही है, उसके कार्य में हाथ बटायें, जहाँ तक संभव हो सहयोग प्रदान करें।

भगवान सब संभावनाओं से परिपूर्ण हैं। उनके लिए कुछ भी असंभव नहीं। वे अनंत हैं और यह सृष्टि उनका अपना आत्म-प्रकटन, अपनी आत्म-अभिव्यक्ति है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि अनंत की अभिव्यक्ति भी अनंत हो। और अनंत वह है, जिसके विषय में हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि वह इतना मात्र ही है, इतना ही कर सकता है, इससे आगे नहीं।

विकास की इस परंपरा को देखते हुए यह प्रसंभाव्य है कि मनुष्य के पश्चात् भी कोई जाति पृथ्वी पर प्रकट हो। श्रीअरविंद सृष्टि-विकास-क्रम में विश्वास करते हैं और निश्चयता

के साथ कहते हैं कि मनुष्य जाति के पश्चात् अतिमानव जाति का प्रादुर्भाव होना अवश्यंभावी है। यह उनका अनुभवसिद्ध कथन है। सृष्टि-विकास-क्रम मनुष्य के साथ, उसकी रचना करने के पश्चात् रुकेगा नहीं। वह उससे श्रेष्ठ किसी जाति को अवश्य जन्म देगा, जो मनुष्य का उच्चतम रूप, एक दिव्य मानव होगा। पृथ्वी के प्राणी उसे देव-मानव कहकर पुकारने में आंतरिक संतुष्टि अनुभव करेंगे। अतिमानव मनुष्य की भांति सीमित अज्ञानजनित मानसिक चेतना पर निर्भर नहीं करेगा। वस्तुओं को, घटनाओं को जानने की, उनके अंतर्निहित सत्य को देखने की उसकी अपनी अतिमानसिक दृष्टि होगी, जो वस्तुओं को उनकी समग्रता में देखती है, उनके आदि, अंत और मध्य को अपने अंदर धारण करती है।

———

शास्त्रीय भाषा में आदर्श शूरवीर उसे कहते हैं जो भगवान के लिए, देश, जाति और जगत के लिए, अपने सर्वस्व की भेंट चढ़ा दे। मानव मात्र के मंगल के लिए हर प्रकार का त्याग करने को उद्यत हो। ऐसे व्यक्ति को, जो कि संसार में एक भागवत-यंत्र है, आत्मा की समग्र दृष्टि प्रदान की जाती है। जिसमें स्थित होकर वह देखता है कि अस्तित्व एक है, जीवन एक है, चेतना एक है। एकत्व ही चरम सत्य है। साथ ही यह एकत्व जिस सत्ता का स्वाभाव है, वह परम सत्ता ही हर व्यक्ति का, इस जगत का मूल है।

मानव आत्मा

चहुँ ओर भागवत उपस्थिति भरी थी, फिर भी मैं कुछ बेचैन-सा था। प्रतीत होता था कहीं कुछ अभाव है, कुछ है जो नहीं कर रहा हूँ, नहीं किया जा रहा है। कुछ करणीय है जिससे मैं दूर हूँ। जिस स्थिति में मुझे होना चाहिये वह इससे भिन्न है। यह उपस्थिति शांत थी। इसमें स्थित रहते हुए भी मैं कोई प्रेरणा प्राप्त नहीं कर रहा था। मेरे और इसके बीच एक दूरी थी। शायद यह अनुभूति का सही स्वरूप नहीं था। अभी भी कुछ और करना शेष था। मैंने भीतर की ओर दृष्टि घुमायी। हृदय की गहराई में प्रभु-शरण ग्रहण की। सब निवेदित किया। धीरे-धीरे चित्त नीरव हो गया। मेरी चेतना मन-सीमा को पार कर गयी। एक प्रेरणा ने मुझे सचेतन किया। "मनुष्य पृथकत्व की चेतना में निवास करते हैं। सब अपने आपको अपने ढंग से सही समझते हैं, सही मानते हुए कर्तव्य-पथ चुनते हैं। इन व्यक्तियों का भाव ठीक वही नहीं होता जो इनके अंदर हृदयेश्वर चाहते हैं। किसी युग में भगवान क्या चाहते हैं, संसार को किस दिशा में मोड़ना चाहते हैं, आत्मा ही जानती है। उसकी इच्छा सदैव वही होती है जो प्रभु चाहते हैं, जो उनके विश्वव्यापी संकल्प की चरितार्थता होती है। जिसमें सम्पूर्ण मानव-जाति का मंगल निहित होता है। भागवत संकल्प व्यक्ति और विश्व दोनों का

मंगल दृष्टिकोण में रखकर कार्य करता है। मनुष्यों की मानसिक सीमा के कारण, उनके ऊपर पड़े धार्मिक तथा जातीय संस्कारों के कारण, यह संकल्प उनके द्वारा सीधा अभिव्यक्त नहीं हो पाता, सीमाओं के कारण सीमित हो जाता है। जो व्यक्ति धर्म, जाति तथा व्यक्तित्व की सीमा को अतिक्रम कर जाता है वही इसकी अभिव्यक्ति अमिश्रित रूप में करने में सफल होता है। भागवत संकल्प कभी-कभी अपनी अभिव्यक्ति के लिए दबाव भी डालता है, किन्तु सदैव दया से भरपूर होता है। बाह्य दबाव की अपेक्षा यह वस्तुओं को भीतर से प्रेरित करने में ही आनंद अनुभव करता है। तू देश, जाति, धर्म की सीमाओं से बाहर आ। शास्त्र की सहायता ले किन्तु उसकी सीमा में बद्ध न हो। उससे परे जा। शास्त्र जिस प्रेरणा पर आधारित हैं उसके मूल से युक्त हो। ब्रह्म के साक्षात्कार से पहले अपनी आत्मा को खोज। अन्यथा तू भटक जायेगा। जगत तुझे मिथ्या, माया, माया की रचना दिखायी देगा। यह सत्य है कि मानसिक चेतना के द्वारा बाह्य व्यक्तित्व से पीछे हटकर ब्रह्म के साथ तादात्म्य लाभ करने से तू अपने आपको ब्रह्म अनुभव करेगा। कारण, तू अपनी मूल सत्ता में ब्रह्म है, किन्तु यह सत्य का एक पक्ष है। अव्यक्त ब्रह्म की उपलब्धि है। इस अनुभूति में तू सृष्टि की सत्यता को– सृष्टि ब्रह्म की भांति मौलिक सत्य न होते हुए भी, अभिव्यक्ति-रूप सत्य है– इस

रहस्य को, साथ ही इसमें कार्यरत भागवत संकल्प को नहीं समझ पायेगा। व्यक्त तथा अव्यक्त, ब्रह्म की दोनों अवस्थाओं के परे परम ब्रह्म अथवा परम पुरुष के अनुभव से तू वंचित रहेगा, जो कि सृष्टि का मूल कारण है और यह सब जिसका आत्म-विस्तार है। मन, प्राण शरीर रूपी यंत्रों को धारण करनेवाला मानव-आत्मा ही सच्चा व्यक्ति है। जन्म-मरण के जुए को वहन करनेवाला, आवागमन के चक्र में घूमनेवाला शाश्वत यात्री है। अतः प्रथम तू इसे अपनी खोज का विषय चुन। मनुष्य को उसकी सत्ता के चरम सत्य से युक्त करनेवाली उसकी आत्मा होती है। इस आत्मा की उपलब्धि कठिन कर्म है। कारण, प्रारंभ के जन्मों में मानव-चेतना अहंकार, मन तथा इंद्रियों के साथ तादात्म्य रखती है। इन्हीं के द्वारा जीवन में स्थायी सुख की खोज करती है। जन्म-जन्मान्तरों के अनुभव के पश्चात् मनुष्य अपनी भूल के विषय में सचेतन होते हैं और भ्रांति से बाहर आते हैं। उनमें चेतना जागती है। वे अंतर्मुखता का भाव अपनाते और प्रभु को समर्पित होकर जीवन-यापन करना सीखते हैं। यही साधन है। जीवन-मुक्ति का पथ है। जिस पर तुझे अग्रसर होना है और उन सब को भी, चरम सत्य की खोज जिनके जीवन का लक्ष्य है। इसी के द्वारा मानव आत्मा विकास को प्राप्त होती है। आत्म-विकास ही सृष्टि में अवतरित आत्मा का लक्ष्य है।"
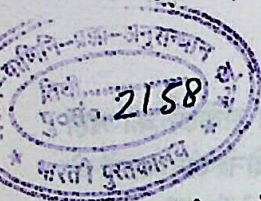
श्रीअरविंद — उनकी शिक्षा

आज संसार के सभी विद्वान् इस विषय में एक मत हैं कि अगर आंतरिक सत्य से दूर होती हुई मानवता की रक्षा करनी है, व्यक्ति, समाज, धर्म तथा जातिगत सीमाओं से उसे ऊपर उठाना है, आध्यात्मिक चेतना में प्रतिष्ठित करना है– जो चेतना जीवन तथा जगत के त्याग की बात नहीं करती वरन् उसमें आत्मा की परिपूर्णता लाने की बात करती है– तो वह केवल श्रीअरविंद की शिक्षा को अपनाने से ही संभव है। कारण, श्रीअरविंद की शिक्षा हमें एक ओर, हमारी अति प्राचीन, अति उच्च एवं अति महान संस्कृति की ओर मुड़ने की, उसे स्वीकार करने की प्रेरणा प्रदान करती है ; तथा दूसरी ओर हमें अपने उज्ज्वलतम दिव्य भविष्य के लिए, मानव-सत्ता तथा जीवन के आध्यात्मिक रूपांतर के लिए, आत्मा की दिव्यता में उसके दिव्यीकरण के लिए भी तैयार करती है। यह रूपांतर ही संसार में मानव जाति की भावी नियति है। परम चेतना की वह दिव्यता जहाँ अनंत आत्मा का अक्षय ऐश्वर्य सदैव शाश्वत व्योम में एकरस होकर निर्विकार भाव में विद्यमान है, जो कि सृष्टि का उद्‌गम है, उसका यहाँ पृथ्वी पर अवतरण, और फलस्वरूप मानव तथा उसके जीवन का उसमें रूपांतरण ही वह संसिद्धि है जिसे साधित करना, वस्तुओं में

अंतर्निहित लक्ष्य है— जिसकी ओर सचेतन या अचेतन रूप में सृष्टि-चक्र गति कर रहा है।

प्रथम, मनुष्य को अपनी संपूर्ण सत्ता की चेतना में, उसके निम्नतम भाग शरीर की चेतना में भी, एक आध्यात्मिक उत्थान लाना होगा, अतिमानस में उसका आरोहण संभव बनाना होगा। तत्पश्चात् ही अतिमानस का अवतरण और उसकी सारी सत्ता का अतिमानसिक ज्योति में रूपांतरण संभव होगा। मनुष्य की चेतना को अतिमानस में उठाना, अतिमानसिक ज्योति का अवतरण उसकी संपूर्ण सत्ता में संभव बनाना और फलस्वरूप पृथ्वी पर वर्तमान अज्ञानमय जीवन के स्थान पर एक आध्यात्मिक जीवन की चरितार्थता, इन अदिव्य वस्तुओं का आत्मा की दिव्यता में रूपांतरण, यही श्रीअरविंद की शिक्षा है। जो सृष्टि-विकास-क्रम को एक स्तर आगे बढ़ा देती है। हमारी उनमें विशेष श्रद्धा है क्योंकि उन्होंने या उनके द्वारा परम शक्ति ने एक नयी चेतना को पृथ्वी पर उतारा है। आज श्रीअरविंद के अनुयायियों की संख्या संसार में अन्य मतावलम्बियों की तुलना में कम है, कम ही उनके दर्शन में विश्वास करते हैं। वे भी विरले ही हैं जो इसके लिए भीतर से प्रेरणा तथा समर्थन प्राप्त कर रहे हैं, जो नयी चेतना की ओर उद्घाटित हैं और सृष्टि-विकास-क्रम के अंतहीन होने में विश्वास करते हैं।

अब प्रश्न है कि यह नयी चेतना क्या है, और संसार को इससे क्या लाभ होगा ? इस समय मनुष्य का निवास मानसिक चेतना में है जो अज्ञानजनित है। वह वस्तुओं के साथ उनके आंतरिक सत्य को नहीं देख पाती। भूत तथा भविष्य का अवलोकन करने में समर्थ नहीं है। भागवत संकल्प को जानना उसकी सामर्थ्य से बाहर है। अतिमानसिक चेतना दिव्य चेतना है। उसमें उठकर मानव अपनी वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण करेगा, अज्ञान से बाहर आयेगा। आत्म-चेतना में निवास उसके लिए स्वाभाविक होगा। भागवत संकल्प के प्रति पूर्ण सचेतन रहते हुए जीवन को उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रदान करेगा। अतिमानसिक चेतना के सहयोग से, उसकी सहायता से पृथ्वी पर दिव्य जीवन की सृष्टि करेगा।

केवल आत्मा के प्रभाव में रहना, दूसरी किसी शक्ति अथवा व्यक्तित्व का प्रभाव स्वीकार न करना, मन, प्राण, शरीर की मांगों से, प्रकृति की दुर्बलताओं से ऊपर उठना एक ऐसी सच्चाई है जिसमें आत्म-उन्नति के सब द्वार स्वतः खुल जाते हैं। सब संभावनाएँ स्वतः प्रदान की जाती हैं। उपयुक्त स्थिति तथा घटनाओं को व्यवस्थित करने का भार स्वयं प्रभु अपने हाथ में ले लेते हैं।

साधना– तीन चरण

समर्पण

हमारे साध्य हैं भगवान। वे हम सबके अंदर, जगत की हर वस्तु के अंदर विराजमान हैं। जगत को अपने अंदर, अपनी सत्ता के एक अंश में धारण किये हुए हैं। हमारे चारों ओर उनकी दिव्य उपस्थिति भरी है, यह संपूर्ण सृष्टि उसमें डूबी है। इस उपस्थिति के प्रति सचेतन रहते हुए जीवन, कर्म तथा सत्ता का अंग-प्रत्यंग समर्पित करना हमारी साधना का, हमारे पुरुषार्थ का लक्ष्य है। अतः जो कुछ भी इसकी ओर उद्घाटित होने में, इसके विधान के अनुसार जीवन यापन करने में, सहायक सिद्ध होता है, उसका वरण करना और जो इसके विधान में बाधक बनता है उस सबका त्याग करना हमें सीखना है। हमारा साधन है आत्म-समर्पण, अभीप्सा, सच्चाई।

कोई भी साधना हम करें, किसी भी मार्ग का अनुसरण करें, ये तीनों शब्द मूल मंत्र हैं। चैत्य पुरुष की दृष्टि से साधन पथ का अवलोकन करने से हमें पता चलता है कि ये शब्द नहीं स्थितियां हैं। ये मिलकर हमारे जीवन-स्तर का निर्माण करती हैं। इनमें सें हर एक में दूसरी दोनों स्थितियां विद्यमान रहती हैं। अन्यथा वह अपूर्ण होती है।

समय से पहले साधक को यह धारणा हो सकती है कि ये तीनों उपर्युक्त गुण उसमें हैं। वह सोच सकता है कि मैं पूर्णतः समर्पित हूँ। मेरा जीवन उच्चतम अभीप्सा की अभिव्यक्ति है। सच्चाई मेरे रोम-रोम में भरी है। भ्रांति की इस संभावना के विषय में हमें सचेतन होना है। इस प्रकार के भाव अहंकार में उठते हैं। जब हमारे हृदय का पर्दा हटने लगता है और अंतस्थ आत्मा की ज्योति हमारे यंत्रों पर पड़ती है, हमें हमारी सत्ता की अपूर्णताएँ, स्वभाव की दुर्बलताएँ, समर्पण में अहंकार का, कामनाओं का, महत्वाकांक्षाओं का मिश्रण स्पष्ट गोचर होता है। अपने विषय में उच्च धारणा बनाने का अर्थ है अपनी समर्पित स्थिति से बाहर आना, जीवन को अपने ढंग से जीना, वह सब करने लगना जो हमारे सीमित बाह्य व्यक्तित्व को– जो कि अहंकार से चालित है– सुख प्रदान करता है । साधक जब समर्पित हो जाता है, उसे किसी प्रकार के चुनाव करने का अधिकार नहीं रहता। वह किसी भी चीज को मनचाहे ढंग से नहीं कर सकता। समर्पित व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को, स्वतंत्रता पूर्वक विचारने की वृत्ति को भी समर्पित करता है। जीवन आत्मा की अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेता है। मन वही विचार करता है, जिसकी प्रेरणा वह अंतस्थ प्रभु से प्राप्त करता है, अन्यथा शांत रहता है। प्राणमय पुरुष की हर गतिविधि और इच्छा, उनके संकल्प की ही चरितार्थता होती है। शरीर और

इंद्रियों की हर चेष्टा, हर मांग उन्हीं की अनुमति पर निर्भर करती है। सब अंतर्सत्ता की ओर प्रवाहित होता है। आत्म-समर्पण, प्रभु आदेश-पालन ही जीवन में सुख एवं सार होता है।

ये तीनों गुण हमारे हृदय के पर्दे को हटाने में सहायक होते हैं। हमें भागवत उपस्थिति की अनुभूति ठोस रूप में प्रदान करते हैं। भागवत उपस्थिति के प्रति सचेतन रहते हुए कर्म करने से हमारी शारीरिक चेतना में उद्घाटन आना प्रारंभ हो जाता है। शरीर के कोश सचेतन होने लगते हैं। इनमें रूपांतर के लिए अभीप्सा जाग्रत होने लगती है।

आवरण से मुक्त होकर हमारी आत्मा जीवन-मंच पर सम्मुख आ जाती है, उसे सही दिशा में मोड़ती है, सब प्रभु की ओर प्रवाहित होता है। सारी सत्ता दिव्यता में उत्थान का मीठा फल चखती है। यही सर्वोच्च मंगल, सर्वोपरि शुभ और परम श्रेय है।

निष्कामता

जब तक हमारे अंदर अहंकार है, हम उसके चलाये चलते हैं, कर्मों का चुनाव वह करता है, सब निर्णय वही लेता है, तब तक निष्काम कर्म करना, श्रेय मार्ग पर आरूढ़ होना, सत्य चेतना में उठना, उसे धारण करना असंभव है। कहने का अभिप्राय है कि जब तक हमारा स्तर यही बना रहेगा जो अब है, जब तक अहमात्मक चेतना में हमारा निवास है, तब तक किसी उत्थान की, मनसातीत स्तरों पर उठने की संभावना से

हम दूर हैं। जब हमारी चेतना का केंद्र चैत्य पुरुष हो जाता है, उसके स्वाभाविक गुण हमारे अपने हो जाते हैं तभी निष्कामता संभव है। कारण, तब हम कर्म अपने लिए नहीं भगवान के लिए करते हैं। कर्म मात्र किसी उच्च चेतना के आदेश का पालन होता है। हम उसके हाथों में अपने-आपको सौंपते हैं और उसके यंत्र बनकर, यंत्र रूप में कर्म करते हैं। दूसरे शब्दों में, जब तक व्यक्तिगत संकल्प है, इच्छाएं हैं, कर्त्तापन का भाव है, तब तक निष्कामता नहीं। ज्यों-ज्यों हम निरहंकारिता में प्रवेश करते जाते हैं हमारे कर्म निष्काम कर्म का रूप लेना प्रारंभ कर देते हैं।

निष्कामता वहाँ आती है, जहाँ क्षुद्र अहं का स्थान आत्मा ले लेती है। व्यक्तिगत संकल्प का स्थान, भागवत संकल्प ग्रहण कर लेता है। जब हम केवल यंत्र मात्र होते हैं, तभी निष्काम कर्म संभव होता है। श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं – 'निष्काम कर्म कर, निमित्त मात्र बन' और फिर समझाते हैं– जिसका भाव इस प्रकार है– सब भूतों के हृदय में मैं बैठा हूँ। मेरे संकल्प से जगत चल रहा है, सब प्रेरित हो रहे हैं। मनुष्य सचेतन नहीं हैं। वे इस तथ्य को नहीं समझते, वे अज्ञान में अपने आपको अपने कर्मों का स्वामी तथा कर्त्ता मानते हैं और इसी से कर्म-फल में बंधते हैं। जो इस जगत-प्रवाह के पीछे एक मात्र मेरा ही संकल्प देखते हैं वे उसके अधीन रहते हुए, उसे समर्पित होकर जीवन यापन करते हैं। मेरे

विधान के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव मानव-मात्र के लिए उनके आत्म-विकास में अनिवार्य चरण है, इसी में उनका सच्चा हित है। प्रभु का सच्चा, सचेतन यंत्र बनना ही साधना है, सिद्धि है, जीवन की सफलता है। कर्मों में कर्म, यज्ञों में यज्ञ, तपों में सच्चा तप है।

सचेतन व्यक्ति का जीवन योगमय होता है। योगयुक्त हुए बिना हम प्रभु के संकल्प को, उनकी इच्छा को नहीं समझ सकते। फलस्वरूप हम उनके यंत्र भी नहीं बन सकते। प्रभु का यंत्र पृथ्वी पर मानव रूप में उनकी शक्ति का केंद्र होता है। यंत्र सदैव निरभिमान, आत्मा से चालित होता है। आत्मिक भाव में ही निष्कामता संभव होती है।

भागवत यंत्र

वे सभी, जिन्होंने अपने अहं को समर्पित नहीं किया, वे सभी जिन्होंने अपने हृदय में वासना को स्थान दिया हुआ है, मन में कामनाओं को पाल रहे हैं, बाह्य व्यक्तित्व को फैलाने और बढ़ाने में, जीवन को वैभवपूर्ण बनाने में सारी शक्ति, चेतना और समय लगा रहे हैं, वे सभी जो विलासिता में डूबे हैं, भोगों से परे कोई सार्थक, कोई यथार्थ वस्तु नहीं देख पा रहे हैं, न देखने का प्रयास कर रहे हैं, अपने जीवन में असफल हैं।

उन्होंने नहीं समझा है कि 'मानव-आत्मा पृथ्वी पर क्यों आती है। इस जगत के और जीवन के पीछे क्या रहस्य है, क्या उद्देश्य है, यह सृष्टि रचना किसने की, क्यों की और

कैसे की। मैं कौन हूँ और कहाँ से आया हूँ, यहाँ मुझे क्या करना है।' इन मनुष्यों के भीतर इनकी आत्मा सुप्त है। अगर जगी भी है तो दुर्बल है। वह मन और अहंकार को अपने प्रभाव में करने में असमर्थ है। चित्त वृत्तियों को एकत्रित, इंद्रियों को संयमित करने में, उन्हें अंतर्मुखी बनाने में समर्थ नहीं है। ऐसे व्यक्ति मुक्त चेतना में नहीं उठ सकते। अपने यंत्रों के द्वारा अंतर्सत्य को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। धरती पर प्रभु का यंत्र बनने का सौभाग्य, उसका श्रेय उन्हें प्राप्त नहीं है। जो व्यक्ति अपने आपको, संपूर्ण सत्ता को प्रभु की ओर खोलने में, उन्हें समर्पित करने में समर्थ है, वही अवतरित होती हुई इस नयी अतिमानसिक चेतना को ग्रहण कर सकता है, और फलस्वरूप अपने अंदर तथा जीवन में रूपांतरण साधित कर सकता है।

आज यह संभावना सर्व-सुलभ है। श्रीअरविंद और श्रीमाताजी के संयुक्त पुरुषार्थ से अतिमानसिक चेतना पृथ्वी पर अवतरित हुई है और संसार का रूपांतर करने में, मानव-चेतना तथा जीवन का स्तर ऊँचा उठाने में संलग्न है। पथ खुल चुका है, सेतु बन चुका है, शक्ति और सहायता उपलब्ध है। मनुष्य चाहे तो संसार के जीवन को स्वर्गिक-जीवन का रूप प्रदान कर सकता है। श्री अरविंद के अपने शब्दों में – भौतिक जीवन दिव्य जीवन में रूपांतरित हो सकता है, उसका दिव्यीकरण संभव है।

जो प्रभु के अपने होकर उनके यंत्र बनकर संसार में जीना चाहते हैं, उनकी इस लीला में सचेतन होकर भाग लेना चाहते हैं, जीवन को एक दिव्य यज्ञ का रूप प्रदान करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि अपना संपूर्ण जीवन, हर कर्म, विचार, भावना अर्थात् सारी सत्ता प्रभु के हाथों में सौंप दें। समर्पण का पथ अपनायें और जीवन को पूर्णतः भागवत संकल्प की अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करें। दो चीजें मानव जीवन में परम आवश्यक हैं। एक है भागवत कृपा अर्थात् प्रभु आशीर्वाद, उनकी सहायता और दूसरी है व्यक्तिगत प्रयास। जहाँ ये दोनों हैं वहीं सही अर्थ में सफलता प्राप्त होती है। भागवत कृपा जब मानव पुरुषार्थ के साथ संयुक्त हो जाती है, मानव क्षमता की सीमा नहीं रहती।

शास्त्रों के स्वाध्याय के फलस्वरूप हमारा हृदय आवरणहीन होता है। अंतस्थ आत्मा की उज्ज्वल ज्योति में जीवन-आँगन का हर कोना जगमगा उठता है, हमारे मन-इंद्रियाँ शुद्ध तथा अंतर्मुख होते हैं। उनकी चेतना परिवर्तित होती है। मुक्त चेतना में हमारा निवास संभव हो जाता है। पृथ्वी पर भागवत यंत्र के रूप में हम जीवन यापन करते हैं।

परिस्थिति

हममें से कुछ हैं जिनके लिए वर्तमान परिस्थिति अनुकूल नहीं है। उन्हें शिकायत है अपने से, जगत से, भगवान से। वे एक विशेष वातावरण चाहते हैं। एक विशेष दिशा में उन्नति करना, एक विशेष स्तर पर उठना चाहते हैं। कुछ विशेष बनना चाहते हैं। यह सब वे अपने ढंग से करना चाहते हैं, जो उन्होंने अपनी बुद्धि से सर्वश्रेष्ठ समझा है। हमें इन विचारवान व्यक्तियों का भाव ठीक ही लगता है और इन्हें अधिक कुछ नहीं कहना है। हम इनका ध्यान जिस ओर खींचना चाहते हैं वह एक व्यावहारिक सत्य है, शास्त्रीय सिद्धांत वचन है। उसे हम इस प्रकार व्याख्यायित करेंगे– जिन्होंने इस जगत को जय किया, इसके सब मुखौटे उतार फेंके, और उनके पीछे छिपे सत्य को, ईश्वरीय तत्व को देखा, उसे जीवन में उतारा और उसकी कृपा तथा सहायता से अपने अभावात्मक, तमसिल और अपूर्ण जीवन को भावात्मक, ज्योतिर्मय तथा पूर्ण बनाया, उनका अनुभवसिद्ध कथन है कि हम जो हैं, जहाँ हैं, जैसे हैं, वह सब हमारे कर्मों के अथवा चुनाव के परिणाम स्वरूप है। लेकिन एक दूसरा तथ्य भी हमें दर्शाया जाता है। वह इस प्रकार है कि हमारे लिए जो भी परिस्थिति तैयार की गयी है, जिसमें आज हम हैं, चाहे हमें वह अनुकूल प्रतीत हो या प्रतिकूल, चाहे वह हमारे दृष्टिकोण से

सहायक हो या बाधक, वह ठीक वही है, ऐसी एकमात्र संभव स्थिति है जो हमारे वर्तमान विकास के लिए सर्वोत्तम है। जिसके द्वारा हम अपनी अभीप्सा को शीघ्रातिशीघ्र फलीभूत हुआ देख सकते हैं, आत्म-विकास में और ऊँचा उठ सकते हैं। बाह्य जीवन का प्रायः एक बड़ा भाग हमारे भूतकाल के जन्मों का कर्मफल होते हुए भी, विगत जन्मों के संस्कार की अभिव्यक्ति होते हुए भी, हमें यथासंभव सर्वश्रेष्ठ परिस्थिति प्रदान की जाती है जिसमें अत्यधिक संभव तीव्र गति से हम आत्म-विकास साधित कर सकते हैं, जिसे अन्यथा ठीक उसी रूप में करना प्रायः असंभव था।

यह भागवत कृपा का ही एक रूप है। हम इसे भागवत कृपा ही कहेंगे कि हम अपना कर्मफल भोगते हुए भी आत्म-कल्याण कर सकते हैं। इसीलिए शास्त्र प्रभु को न्यायकारी कहने से पहले दयालु कहते हैं। भागवत कृपा का हस्तक्षेप सब समय हमारे कर्मों के फलस्वरूप ही नहीं होता। यह एक दिव्य देन है जिसे हम कभी-कभी अपने ऊपर अनायास बरसती देखते हैं। अगर इसका कोई कारण है या हो सकता है तो वह जानना हमारी पहुँच के बाहर है। हम इसे जग-स्वामी की, जग-नियंता की, हमारी आत्मा के प्रियतम की इच्छा से अधिक क्या कह सकते हैं!

सृष्टि में भागवत कृपा का यह तत्व-विशेष शास्त्रों में सभी विधि-विधानों से ऊपर बताया है। यह मानव आत्मा के प्रति प्रभु का विशेष प्रेम प्रकटन है। लेकिन इसे सुलभ भी बनाया जा

सकता है। यह मानव आत्मा के पीछे सदैव उपस्थित है। इसकी सहायता सर्वदा उपलब्ध है। इसके लिए एक सच्ची पुकार चाहिये और हम देखेंगे यह उपस्थित है। इसकी उपस्थिति प्रभु की विजय, परम सत्य की विजय होती है।

यह अद्भुत सृष्टि भगवान की है। वे इसमें विद्यमान हैं। यहाँ सब कुछ उनकी देख-रेख में चलता है। जिसके आत्म-विकास के लिए जो आवश्यक है वह प्रदान किया जाता है। अतः हमें कभी निराश नहीं होना चाहिये, शिकायत नहीं करनी चाहिये। अगर हमें ऐसा लग रहा है कि किसी परिस्थिति विशेष से हमारी प्रगति रुक रही है तो उसकी शिकायत नहीं– कारण शिकायत अपने आपमें कोई समाधान नहीं है, वरन् परिवर्तन के लिए अभीप्सा करनी चाहिये। वह भी इस प्रकार नहीं, मानों हम भगवान से अधिक बुद्धिमान हैं, उनसे अधिक जानते हैं, कि हमारे लिए क्या आवश्यक है, बल्कि इस प्रक़ार कि, हे प्रभु, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान परिस्थिति मेरे अनुकूल नहीं है, मैं इसमें रहते हुए अपना आत्म-विकास सुचारु रूप से साधित नहीं कर सकता हूँ। अतः यदि मेरी प्रार्थना सही है, तो कृपया इसे परिवर्तित कीजिये। मैं सब कुछ आपके निर्णय पर छोड़ता हूँ। मेरा कल्याण किसमें है वह आप मुझसे कहीं अच्छी तरह जानते हैं। मैं आपकी शरण में हूँ। और हम देखेंगे कि सब ठीक उसी प्रकार व्यवस्थित हो गया जैसा होना चाहिये था।

भागवत हथौड़ा— उसकी अमूल्य चोट

शास्त्र कहते हैं कि आत्म-अनुसंधान का पथ विकट है। यह तलवार की धार पर चलने के समान है। अतः हमें दुहराना पड़ रहा है कि आंतरिक खोज को मानव जीवन के लक्ष्य के रूप में जिन्होंने चुना है उन्हें अत्यंत सचेतन होकर जीवन यापन करना है। जीवन मार्गों पर अत्यधिक सजगता के साथ अग्रसर होना है। कारण, पथ विकट है, मार्ग टेढ़े-मेढ़े हैं, कहीं-कहीं अंधेरी गुफाओं में से गुजरना होता है, इसीलिए विशेष सावधानी की, सतत जागरुकता की परम आवश्यकता है। जहाँ एक ओर पथ लंबा है, वहीं दूसरी ओर पग-पग पर फिसलन की, अंधकार के गर्तों में, खाइयों में पतन की संभावना है। केवल हमारी सच्चाई, हमारा समर्पण, हमारी श्रद्धा हमें सुरक्षित रख सकती है।

संभव है कि पथ पर कुछ दूर चलने के पश्चात्, कुछ छोटी-मोटी उपलब्धियों के पश्चात्, हमें परिस्थिति में अंतर अनुभव होने लगे, वातावरण परिवर्तित प्रतीत हो, वस्तुएं तथा घटनाएं अनुकूल न होकर प्रतिकूल नजर आने लगें। व्यवस्था कुछ कठोर-सी प्रतीत हो, तब भी, इस विषम परिस्थिति में भी हमें विचलित नहीं होना चाहिये। धैर्यपूर्वक, साहस और शांति के साथ अपने मनोभाव का अवलोकन करना चाहिये। आत्मा के प्रभाव में रहते हुए, हृदय की पूर्ण पारदर्शिता के साथ—

जिसमें अहंकार की पूर्ण शून्यता प्रथम शर्त है– अगर हम अपने अंदर झांकेंगे, तो देखेंगें कि इसका कारण हमारे अंदर है, हमारी बाह्य सत्ता में है, हमारा अहंकार, उसका सीमित दृष्टिकोण है। श्रीमाताजी की शिक्षा में हमें पढ़ने को मिलता है कि चाहे जो भी समस्या हो, उसका कारण हमारे ही अंदर है और वहीं उसका उपाय भी होना चाहिये।

हमें बताया गया है कि प्रायः सभी समस्याएं अहंकार की उत्पत्ति होती हैं। अगर संस्था में, उसकी व्यवस्था में, हमें दोष दिखाई देते हैं और इसीलिए हम उसका प्रतिरोध करने की सोचने लगे हैं– क्योंकि हमारा अनुमान है कि इसी कारण, हमारी प्रगति रुक गई है, चेतना का स्तर निम्न हो गया है– तो समझ लेना चाहिये कि यह हमारा पुराना स्वभाव है जिसमें अहंकार शासक था और अब हम पुनः उसी के प्रभाव में आ गये हैं। हमारे अंदर कहीं कोई ग्रंथि थी जो समर्पित नहीं की गयी। वह इतनी सूक्ष्म थी कि हम उसके प्रति सचेतन नहीं थे और परिस्थिति में जो विषमता हमें अनुभव होने लगी है यह उसी की अभिव्यक्ति है, उसी का प्रतिबिम्ब है। यह विषम परिस्थिति जो हमारे सम्मुख है, वास्तव में उसी ग्रंथि को सामने लाने का, हमें उसके प्रति सचेतन कराने का भागवत विधान है। जिसे श्रीअरविंद ने भागवत हथौड़ा कहा है। इसका अंत सदैव मंगलकारी सिद्ध होता है, इसकी परिणति शुभ। इसका फल आत्म-सुख, इसका परिणाम भागवत विजय।

साधना के अंधकारपूर्ण काल में जब हम अपने चैत्य पुरुष के प्रभाव में न रहकर अहंकार से प्रभावित हो जाते हैं, हमें चाहिये कि हम भागवत कृपा का आह्वान करें, प्रभु को पुकारें, उनके पथ-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना करें। सब कुछ उनके चरणों में समर्पित कर दें। अगर हम इस विषम परिस्थिति से बाहर आने के संकल्प में सच्चे हैं तो सहायता अवश्य होगी।

चैत्य पुरुष के सानिध्य में निवास अपने स्वभाव के ऊपर हमारी विजय है। वहाँ सदा सच्चा सुख, शांति, अभीप्सा, प्रसन्नता विराजती है। इसके उपरांत हम देखेंगे कि हमारे अंदर पहले से अधिक आत्म-बल है। हम इस तथ्य को अधिक स्पष्ट रूप में समझने लगे हैं कि मानव स्वभाव बदल सकता है, उसकी अहंमय चेतना परिवर्तित हो सकती है, अपने आपको अतिक्रम कर सकती है। हम अपनी वर्तमान स्थिति से, चाहे वह कितनी भी अंधकारपूर्ण हो, ऊपर उठ सकते हैं और अंधकारपूर्ण निराशा की रजनी में भी प्रभु का वरद हस्त हमें तजता नहीं, हमारे शीश पर होता है। हमारा विश्वास दृढ़ हो जाता है, हृदय अपूर्व आह्लाद से भर उठता है। हम और अधिक निश्चय के साथ आत्म-अनुसंधान के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। एक अद्‌भुत जोश का झरना हमारे हृदय में फूट पड़ता है। देवोपम उत्साह हमारे रोम-रोम में हिलोरें लेता है। वीरोचित साहस हमारे लिए मार्ग प्रशस्त करता है।

प्रभु-वचनबद्धता – पत्र

हमें भगवान को भगवान के लिए पाना है। किसी अन्य वस्तु अथवा कारण के लिए नहीं। उसके साथ ही हमें यह भी देखना है कि प्रभु यदि हमें किसी कारणवश अपनी ओर बुलाने का इशारा करते हैं तो उस समय हमें अविलम्ब मुड़ना और उनके पास पहुँचना चाहिये। उस समय अपनी बुद्धि से निर्णीत किसी परिपक्व अवसर की प्रतीक्षा में उस स्वर्णिम सुयोग को हाथ से नहीं निकलने देना चाहिये। प्रभु कृपा से प्लावित ऐसे क्षण जीवन में बहुत ही कम आते हैं। मनुष्य को चाहिये कि वह उस समय किसी प्रकार के विचार, कल्पना या योजना मन में न आने दे। यहाँ तक कि यह विचार भी नहीं कि मुझे अकेले की अपेक्षा सपरिवार ही प्रभु की ओर मुड़ना चाहिये। ऐसा विचार अज्ञानजनित है। शास्त्रों में कहा गया है – प्रभु इच्छा और आदेश को हमें जीवन में सर्वोपरि स्थान प्रदान करना चाहिये। संसार में उनके समान हमारा अपना कोई नहीं है। देह, धर्म, देश या परिवार सब प्रभु की देन हैं, उन्होंने ही यह सब हमें दिया है, उनके कारण ही इनका अस्तित्व है, वे चाहते हैं तो यह सब है। इनकी प्राप्ति के पीछे उनकी कृपा है। अतः हमें सजग रहना है कि अगर प्रभु का इशारा अपनी वस्तु वापस लेने का हो तो हमें तुरत

उस वस्तु को सहर्ष उन्हें भेंट कर देना चाहिये। प्रभु के लिए, उनकी प्रसन्नता के लिए ही हमें शरीर में, परिवार में, संसार में रहना चाहिये।

हम सब आत्मिक स्तर पर एक हैं। बिलकुल अभिन्न हैं । परन्तु अंतरात्मिक स्तर पर पृथक्-पृथक् हैं। जब किसी विशेष अंतरात्मा को प्रभु अपने समीप खींचना, उसे तादात्म्य प्रदान करना चाहते हैं तो यह जरूरी नहीं कि वे दूसरी उसकी सखा अंतरात्मा को भी खींचें या उसके अंदर अभीप्सा जगायें। प्रभु के साथ हरेक अंतरात्मा का संबंध पृथक है और जो नियम या भाव एक अंतरात्मा के साथ उपयुक्त हो वह आवश्यक रूप से दूसरी के साथ भी हो, ऐसी बात नहीं । प्रभु के साथ हर अंतरात्मा के जन्म-जन्मांतरों के संबंध होते हैं, उसकी अपनी इच्छा, अभीप्सा तथा प्रतिज्ञाएँ होती हैं। अपने ढंग से कुछ घटनाओं पर प्रभु-अनुमति ग्रहण की होती है। प्रभु ने उसे एक विशेष समय पर, एक विशेष स्थिति में सहायता करने का वचन दिया होता है। हम कह सकते हैं, यह सब उन्हीं व्यक्तियों के साथ घटित होता है जिनके अंदर आत्मा विकसित है, जो आत्म उन्नति का मार्ग एक निश्चित दूरी तक तय कर चुके हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि एक अंतरात्मा, जिसे भक्ति से प्रसन्न होकर प्रभु ने यह वचन दिया हो– कि अगले जन्म में मैं तुम्हें आत्म-साक्षात् दूंगा अथवा स्वीकार करूंगा, तुम मेरे

लिए ही जीवन-यापन करोगी— और अगर शिक्षा की आधुनिकता के कारण या वातावरण के अधार्मिक होने के कारण या माता-पिता, देश, जाति की नास्तिकता के कारण एक निश्चित समय तक वह आत्मा न जागे, अपनी अभीप्सा को, प्रभु के पाने के संकल्प को कार्यान्वित न कर पाये, उस दिव्य प्रेम-अग्नि को अपने अंदर प्रज्ज्वलित न कर सके, जिसमें सिवाय भगवान के प्रेम के बाकी सब स्वाहा हो जाता है, तो प्रभु— क्योंकि वे वचनबद्ध हैं, उन्होंने समय रहते जगाने का, उद्धार करने का वचन दिया हुआ है— उस अंतरात्मा के जीवन में हस्तक्षेप करते हैं, उसे जगाने के लिए आवश्यक कारण उत्पन्न करते हैं। और कभी-कभी तो सुखपूर्वक चलती हुई जीवन-नौका के पथ में भयंकर विघ्न-बाधा भी उत्पन्न करते देखे जाते हैं। उस आत्मा का जीवन अशांति से, निराशा से भर उठता है। वह सहायता के लिए प्रभु को पुकारती है। उनकी ओर मुड़ती है। उनकी शरण ग्रहण करती है। उन्हें समर्पित रहते हुए अपने आत्म-विकास के मार्ग पर अग्रसर होती है। एक ज्योतिर्मय मानसिकता, भक्तिभाव से भरपूर हृदय, प्रभु-हित जीवन, विचार, कर्म तथा संकल्प की त्रिवेणी के समन्वय से सजा जीवन प्रभु की ओर से वह प्रसाद रूप में प्राप्त करती है। इस प्रकार हमारे अंदर लक्ष्य-प्राप्ति का कार्य सुसम्पन्न हो जाता है।

अहंकार की प्रतिक्रिया– पत्र

जैसे ही जीव भगवान की ओर मुड़ता है, उन्हें समर्पित होकर जीवन-मार्गों पर चलने का संकल्प लेता है, हमारे प्राणिक अहंकार को धक्का पहुँचता है, वह निराशा से भर उठता है और इस हृदय स्थित भगवान की तथा सृष्टि-चक्र में अवतरित चैत्य पुरुष की इस विजय को– हाँ, परमेश्वर की ओर पूर्ण रूप से मुड़ना जीवन में एक महान विजय है– वह अपनी भारी हार समझता है। इसे दुर्भाग्य कहकर अपने को कोसता हुआ भयंकर नैराश्य और उदासीनता में जा गिरता है। निराशा और उदासीनता तमोगुण की सृष्टि हैं और अगर ऐसे संक्रमण काल में हम आत्मा को छोड़कर, अपने इस निराश अहं के साथ एकत्व स्थापित करें तो परिणाम महान क्षतिकर होता है। हमारे आंतरिक विकास का कार्य कई जन्म पीछे हट जाता है। अतः हमें अति सावधानी के साथ आत्म-निरीक्षण करते रहना चाहिये। यह समझने की योग्यता और पहचानने की सूक्ष्मता विकसित करनी चाहिये कि हमारी सत्ता में कौन सी चीज किस भाग से उठ रही है, कौन प्रेरणा किस स्तर से आ रही है। वह हमारे मन से उठ रही है या अहंकार से या आत्मा से। जो व्यक्ति इस उपर्युक्त आत्म-निरीक्षण में सफलता प्राप्त कर लेता है वह अपनी निम्न प्रकृति पर, जो अहंभाव या

अज्ञान से पूरित है, विजय लाभ करने में सफल होता है। इस प्रकार हम अपनी निम्न प्रकृति का ऊर्ध्व प्रकृति में आरोहण करने में और ऊर्ध्व प्रकृति का निम्न प्रकृति में अवतरण संभव बनाने में सफल हो जाते हैं। एक बार जहाँ निम्न प्रकृति का ऊर्ध्व प्रकृति में रूपांतर साधित हुआ, हमें योगारूढ़ता प्राप्त हो जाती है और साधना निरापद चलती है। हम दिन-दिन प्रकाश से अधिक प्रकाश में, ज्ञान से अधिक ऊँचे ज्ञान में प्रवेश करते हैं।

हमें बताया गया है कि किसी भी महान कार्य को सम्पन्न करने में सदा ही भारी विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है। वे बाधाएँ चाहे बाह्य जगत की हों और हमें विपरीत परिस्थिति के रूप में उनसे लोहा लेना पड़ता हो अथवा हमारे स्वभाव की दुर्बलताएँ हों। हमें जिस बात की ओर निरंतर अपनी अभीप्सा और एकाग्रता को बनाये रखना है वह है भगवद् निर्दिष्ट कर्म, जो कि हमारे जीवन का लक्ष्य है और जिसे हमें सजग रहते हुए सम्पन्न करना है। उस भागवत कर्म की परिसमाप्ति चाहे संसार में रूपांतर लाना हो, चाहे यहाँ जीवन का स्तर ऊँचा उठाना हो, चाहे व्यक्ति का अपना आत्म-साक्षात्कार हो। हमारे सामने जिस वस्तु का महत्व है वह है भागवत आदेश, उसका पालन। अगर मानवता शांति-मुक्ति लाभ करती है तो वह हमारे लिए सर्वाधिक प्रसन्नता का विषय होना चाहिये। कारण, सारा विश्व माला के

मनकों की तरह एक ही सूत्र में गुँथा है और इस जगत में सिवाय उस एकतम ब्रह्म के अन्य कोई नहीं। किसी का पृथक् अस्तित्व नहीं। सभी अस्तित्व उसी एक चरम अस्तित्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। अपनी तथा परिवार की उन्नति की, सुख-सुविधाओं की चिंता में दूसरों की सेवा को गौण समझना, लोक-संग्रह के नाम पर व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना में डूबे रहना, प्रभु प्रदत्त कार्य को तुच्छ समझ कर उसकी उपेक्षा करना मानवीय स्वभाव की, उसकी स्वार्थ बुद्धि की कुशलता है या हो सकती है। यह कदापि अंतःस्थित ईश्वर की या हमारी अंतरात्मा की इच्छा नहीं हो सकती। हमें चाहिये कि हम दूसरों की उन्नति के लिए अपनी उन्नति की चिंता न करें। विश्व-शांति और मंगल में, सर्वभूत हित में सदा ही व्यक्ति-विशेष को अपने हित और मंगल भेंट कर देने चाहियें। यही व्यक्ति के लिए शास्त्रोक्त मानव कर्त्तव्य, उसकी मानवीय सीमाओं से मुक्त होने का उपाय है। इसी के द्वारा व्यक्ति विश्व-चेतना में उठने में समर्थ होता है। विश्व-चेतना में उत्थान व्यक्ति का जीवन-मुक्ति की ओर अग्रसर होने में प्रथम सोपान है। हम पूर्ण व्यक्ति तभी होते हैं जब हम अपना व्यक्तित्व विश्व-पुरुष में प्राप्त कर लेते हैं। तभी हमें क्षुद्र अहंभाव से छुटकारा मिलता है। वर्तमान सीमित, अहंमय व्यक्तित्व से ऊपर उठकर भागवत चेतना में निवास ही मनुष्य का चेतना-स्तर होना चाहिये। यही जीवन-मुक्ति है।

सचेतनता की ओर

हमें सचेतन बनना है। श्रीमाताजी ने कहा , "सचेतन बनो, सचेतन बनना ही योग है।" सचेतन बनकर ही हम अपने आपको और अपने चारों ओर विश्व को पूर्ण रूप से जान सकते हैं। बिना सचेतन बने हम उस चरम पूर्णता में प्रवेश नहीं कर सकते जिसकी उपलब्धि मानव आत्मा का लक्ष्य है और धरती पर उसके आगमन को सार्थकता प्रदान करती है। उस पूर्णता में उठकर ही हम इन धूलिकणों में दिव्य महत्ता और महानता को देख पाते हैं तथा उसके इस प्रकार छिपने में जो रहस्य है, जो अर्थ है उसे समझ पाते हैं।

अभी हम केवल अपनी सत्ता के ऊपरी तल पर ही सचेतन हैं। उत्तल पर निवास करते हैं और उत्तल को ही जानते हैं। यह हमारी बाह्य यांत्रिक सत्ता है जो विश्व के सतही जीवन से संबंधित है और उसे ही विश्व का संपूर्ण स्वरूप समझती है। हम अपनी इंद्रियों के द्वारा विश्व को जैसा देखते हैं उससे वैसा ही व्यवहार करते है। किन्तु यह केवल बाह्य जीवन है जो बाह्य पुरुष के द्वारा यापित किया जाता है।

हमारी बाह्य इंद्रियों की दृष्टि बाह्य जगत तक ही सीमित है। ये वस्तु की गहराई में नहीं देख सकतीं। अतः हमारी सत्ता की वास्तविकता इनसे अछूती रह जाती है। हमारे इस

मन-प्राण-देह रूपी बाह्य व्यक्तित्व के पीछे हमारी अपनी सत्ता का एक विशाल क्षेत्र है, जिसमें हमारे आंतरिक व्यक्तित्व और इंद्रियाँ हैं जो सूक्ष्म हैं। इनकी सहायता से हम जगत के बाह्य रूपों के पीछे जा सकते हैं और वस्तुओं के अंतर्निहित सत्य को देख सकते हैं।

हमें अपनी सत्ता के हर स्तर पर, हर क्षेत्र में, सचेतन बनना होगा। तभी हम परम अस्तित्व के हर स्तर पर सचेतन बन सकते हैं। हमारी व्यक्तिगत सत्ता का हर स्तर वैश्व सत्ता का एक सीमित केंद्र है, एक प्रक्षेपण है। विश्व सत्ता हमें अपने से बिना पृथक् किये हमारे अंदर पृथकत्व का भाव, पृथकत्व की चेतना भर देती है, अर्थात् अनंत विश्व सत्ता हमारे अंदर स्वयं को केंद्रित कर व्यक्तिभावापन्न हो जाती है। यह पृथकत्व, चेतना का यह परिसीमन हमें आत्म-ज्ञान के स्थान पर आत्म-अज्ञान में प्रतिष्ठित कर देता है; जहाँ हम विश्व के सत्य स्वरूप से, वस्तुओं के सत्य बोध से दूर हो जाते हैं।

सचेतनता को हम व्यावहारिक रूप इस प्रकार दे सकते हैं– जो विचार, वृत्ति या भाव उठें उन्हें समझने की कोशिश करें कि वे सत्ता के किस भाग से उठ रहे हैं। मन से, प्राण से या शरीर से। ऐसे ही कामनाओं के मूल को, प्रेरणाओं के स्रोत को पहचानें कि वे कहाँ से आ रही हैं। प्रतिक्रिया हो तो उसे भी अभिव्यक्त करने से पहले देखें और समझें कि हम सही तो हैं!

कहीं ऐसा तो नहीं कि वह अहंकार से उठी एक लहर हो और हमें हमारे आंतरिक सत्य से विमुख कर रही हो, दूर ठेल रही हो। कोई भी निर्णय हम लें, चुनाव करें अथवा जीवन की दिशा को मोड़ दें, प्रथम हमें इन्हें आंतरिक़-सत्य की कसौटी पर भली प्रकार परख लेना चाहिये कि यह सब हमारी सत्ता के सत्य के साथ समस्वर है या नहीं। जीवन क्षेत्र में हमें केवल उन्हीं तत्वों का चुनाव करना है जो हमें हमारे आंतरिक सत्य से युक्त करें। हमारी आत्मा पर अज्ञान का जो आवरण पड़ा हुआ है उसे हटाने में सहायता करें। हृदयेश्वर की शरण लेने में, आत्म-साक्षात् में, पृथ्वी पर प्रभु का यंत्र बनने में सहायक हों।

बाह्य सत्ता के पीछे जो हमारा सच्चा व्यक्तित्व है, उसके साथ तादात्म्य लाभ करके हम उस क्षमता को प्राप्त कर सकते हैं जिसके द्वारा यह अति कठिन कार्य जिसे श्री अरविंद ने 'चरम पूर्णता की प्राप्ति' कहा है, सुगमतापूर्वक प्रतिपादित किया जा सकता है। यह कार्य कठिन इसलिए होता है क्योंकि मानव प्राणी स्वभाव से बहिर्मुखी है, उसकी सभी वृत्तियाँ बहिर्गामी हैं। यह कार्य सरल तब हो जाता है जब हम अपनी वृत्तियों को अंतर्मुखी कर लेते हैं और हमारा जीवन आंतरिक सत्य की अभिव्यक्ति होता है।

हमें आत्म-सत्य के विधान के अनुसार जीवन यापन करना है। हमारा हर कर्म, हर विचार आत्म-प्रेरित होना

चाहिये। जब हम दूसरे प्राणियों से व्यवहार करें तब हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि उनके हृदय में एक जीवंत दिव्य उपस्थिति विराजमान है। जो सक्रिय रूप में हम सबके जीवन का जीवन, चेतना की चेतना, अस्तित्व का अस्तित्व है। यह संपूर्ण विश्व, ये सब प्राणी, उसी की आत्म-अभिव्यक्ति हैं। और यह प्राणी भी, यह वस्तु भी जिसके सम्मुख मैं इस समय उपस्थित हूँ अपने मूल स्वरूप में वही है।

इस प्रकार प्राणियों के प्रति, वस्तुओं तथा घटनाओं के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदलने में उसे अध्यात्मभावापन्न बनाने में, सचेतनता की अति आवश्यकता है। सचेतनता के बिना कोई भी व्यक्ति अहंप्रेरित वर्तमान अज्ञानमय जीवन से ऊपर नहीं उठ सकता। जगत के प्रति दृष्टिकोण को परिवर्तित करने के लिए सचेतन होना होगा। सचेतन होकर ही हम अपने आपको, जीवन-धारा की दिशा को बदलने में समर्थ हो सकते हैं, अन्यथा यह असंभव है। किसी भी प्रकार का रूपांतर लाने के लिए यह परम आवश्यक है कि हम आंतरिक सचेतनता लाभ करें। तभी हम अपने स्वभाव की सीमाओं को अतिक्रम कर सकते हैं। मानव स्वभाव और सीमाओं का अतिक्रमण ही वह शर्त है जिसकी मांग अतिमानवता की प्राप्ति के लिए और उसमें आरोहण के लिए हमसे की जाती है। अतिमानवता, अर्थात् मानव का दिव्य मानव में रूपांतरण

ही वह मुकुट है जिसके लिए सृष्टि के आदि में जीवात्मा ने यह अभियान प्रारंभ किया था। देह-प्राण-मन रूपी करणों का दिव्यीकरण पृथ्वी पर लक्ष्य रूप में चुना था। और जब तक वह इस अतिमानवता रूपी राजमुकुट को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसके चिर तृषित हृदय में न सुख है, न शांति, न हर्ष; वहाँ है केवल अभीप्सा की अग्नि, अदम्य साहस, संघर्ष के लिए प्रचंड जोश। सामान्य मानव बुद्धि इस तथ्य से अनभिज्ञ है। उसके अहंप्रेरित, कामनाओं से भरे जीवन में आत्मा के प्रकाश की किरण कम ही पहुँच पाती है।

यह सत्य है कि हम मानव प्राणी हैं और मानवता हमारा स्वभाव है। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि हम अपनी सत्ता के गभीरतम सत्य में दिव्य पुरुष हैं और दिव्यता हमारा स्वभाव है। हम अमृत की संतान हैं, ईश्वर के अंश हैं और अपनी मूल सत्ता में अनादि-अजन्मा आत्मा हैं। मन की एक विशेष नीरवता में, उत्तल से अपनी व्यक्ति-चेतना को पीछे खींचकर, बाह्य सत्ता की पूर्ण अंतर्मुखता के साथ अगर हम अपने भीतर गहराई में डुबकी-सी लगायें और वहाँ स्थिर रह सकें तो आंतरिक जगत, आंतरिक सत्ता के स्तर दृष्टिगोचर होने लगते हैं। मन की विशेष नीरवता से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जहाँ हम विचारों के अभाव की शून्यता में या निष्क्रियता में अपना समय नष्ट नहीं करते, वरन् उस शांत

स्थिति में संकल्प शक्ति का प्रयोग करते हैं जो बिना विचार, केवल एक दबाव के रूप में, चेतना की एक गति, एक क्रिया मात्र होती है। उसमें कुछ देखने की, कहीं उस पार और आगे प्रवेश पाने की एक जोशीली-सी तरंग होती है। ज्यों-ज्यों हमारी अभीप्सा और समर्पण सर्वांगीण एवं अधिकाधिक पूर्ण होते जाते हैं यह संकल्प शक्ति उतनी ही अधिक बलशाली होती है और सब बाधाओं को निर्मूल करने में, व्यवधानों को चीरने में, दीवारों-द्वारों को तोड़ने-फोड़ने में समर्थ हो जाती है। हम जो कहा करते हैं, 'जहाँ संकल्प वहीं मार्ग' इस कथन में जो सत्य है वह इसी स्तर का है। बौद्धिक या मानसिक संकल्प भी जब तक इस आंतरिक संकल्प पर आधारित नहीं होता तब तक उसका पूर्णरूपेण फलीभूत होना संदिग्ध ही बना रहता है।

जब हम अपनी आत्मा अर्थात चैत्य पुरुष को, जो हमारा सच्चा व्यक्तित्व है, सम्मुख रखते हुए निज जीवन को उसी के संकल्प की अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करते हैं तो हमारा वर्तमान अहंमय जीवन, तुच्छता एवं संकीर्णता से ऊपर उठकर एक आध्यात्मिक जीवन का रूप धारण कर लेता है। उस जीवन में हम चैत्य पुरुष की आंखों से देखते हैं तो जगत बिलकुल भिन्न प्रकार का दिखाई देता है। जगत, इसकी रचना, इसमें स्थित प्राणी, यहाँ घटित होने वाली घटनाएं देखकर हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। कारण, अब हम देखते हैं

कि चीजें ठीक वैसी नहीं हैं जैसी अब तक हमारी मानसिक या भौतिक दृष्टि हमारे सम्मुख प्रदर्शित करती थी। अब तक के हमारे सब प्रत्यक्ष अनुभव, प्रतिक्रियाएं भूल थीं। हम वस्तुओं और प्राणियों के केवल उत्तल भाग को ही देखते थे, उसे ही सब कुछ, पूरी वस्तु या पूरा प्राणी समझने की भूल करते थे। हमारी सब क्रियाएं चाहे वे शारीरिक हों या प्राणिक अथवा मानसिक, स्वार्थ भरी हों या निस्वार्थ, सब हमारे बाह्य व्यक्तित्व के द्वारा होती थीं। लेकिन चैत्य पुरुष की दृष्टि से लाभान्वित होकर हम देखते हैं कि हमारे बाह्य व्यक्तित्व के पीछे हमारी सत्ता का एक अतिविशाल एवं अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाग है जिसके विषय में हमें अभी तक कोई ज्ञान नहीं था और उसका स्वभाव भी भिन्न है, आत्म-सत्य के अधिक समीप है।

चैत्य पुरुष के प्रति सचेतन होने से, उसके पथ-प्रदर्शन में जीवन पथ पर अग्रसर होने से, हमें दो विशेष लाभ होते हैं जो अन्यथा नहीं होते। प्रथम है जगत की सत्यता, अर्थात् हमारे लिए यह अनुभूति स्वाभाविक हो जाती है कि यह विश्व उस एकमेव स्वयं सत् की आत्म-अभिव्यक्ति है और उसका संकल्प प्राणियों एवं वस्तुओं के हृदय में स्थित है जो यहाँ अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिए क्रमिक विकास के रूप में कार्यरत है। दूसरा, हम मनोमय पुरुष की एकाग्रता के द्वारा व्यक्ति सत्ता से पीछे हटकर निष्क्रिय आत्मा के एकांगी

अध्यात्म अनुभव में अपने आपको सीमित न करके, आध्यात्मिक मानस स्तरों में प्रवेश के द्वारा परम आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। इन स्तरों की उत्तरोत्तर विशाल होती हुई दृष्टि और चेतना सृष्टि के रहस्यों को हमारे सम्मुख उद्घाटित करती है, जिनके विषय में सचेतन होना हमारी चरम आत्म-परिपूर्णता के लिए अनिवार्य प्रक्रिया है। श्रीअरविंद ने अपने महान ग्रंथ 'दिव्य जीवन' में इन स्तरों का सविस्तर वर्णन किया है।

सचेतन शब्द की गहराई, इसका भाव, अथवा स्थिति जो यह अपने साथ, अपने अंदर वहन करता है उसे समझने के लिए श्री अरविंद का एक वाक्य है जो द्वार खोल देता है और सहायक बनता है। अगर हम इस वाक्य को श्रद्धापूर्वक हृदयंगम करें तो यह हमें उस स्तर पर उठा सकता है जिस स्तर का यह सत्य है, जहाँ अनुभूत तथ्य है, व्यावहारिक वस्तु है। श्रीअरविंद कहते हैं– "हमेशा ऐसे व्यवहार करो जैसे श्रीमाँ तुम्हें देख रही हों, क्योंकि वे निस्संदेह, सर्वदा, सर्वत्र उपस्थित हैं"– सामान्य चेतना का मनुष्य इन शब्दों के भाव की गहराई में नहीं पहुँच सकता। उस चेतना में नहीं उठ सकता, जिस स्तर का यह सत्य है, जहाँ हम एक जीवंत जाग्रत उपस्थिति के साथ, प्रेम और करुणा से भरी भागवत शक्ति की मूर्ति के साथ व्यवहार करते हैं, उसका सानिध्य प्राप्त करते हैं। लेकिन

प्रार्थना और प्रयास से सब संभव है और हममें से अनेक के लिए यह अनुभव सिद्ध कथन व्यवहार की वस्तु, एक तथ्य बन चुका है। जो सचेतनता के मार्ग पर आगे बढ़ चुके हैं, उन सबका जीवन, जीवन का हर कर्म, कर्म का हर भाव, श्रीमाँ की उपस्थिति में सम्पन्न होता है।

इस गहन विषय को समझने के लिए एक ऐतिहासिक दृष्टांत हम यहाँ निरूपित करते हैं। एक बार भगवान बुद्ध उपदेश दे रहे थे। उनके मुँह पर एक मक्खी आकर बैठ गयी। स्वाभाविक ही था कि हाथ उठा और उसे उड़ा दिया। लेकिन अगर बात इतनी ही होती तो यह घटना इतिहास न बनती और हम उसका यहाँ उल्लेख न करते। आनन्द जो उनके शिष्यों में प्रमुख था, सदा उनके समीप ही बैठता था और उनकी हर क्रिया का अति-सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण किया करता था। वह जानता था कि महापुरुषों की कोई भी बात, कोई क्रिया साधारण स्तर की नहीं होती। उसमें कुछ रहस्य अवश्य छिपा होता है। मक्खी उड़ने के बाद जो घटना घटित हुई वह रहस्यमय थी। आनन्द ने देखा कि भगवान बुद्ध का हाथ पुनः एक बार उठा और ठीक उसी प्रकार मुँह के सामने से गुजर गया मानो उन्होंने मक्खी दुबारा उड़ाई हो। यह आनन्द की समझ से बाहर की बात थी। अतः हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बोला— "भगवन !" मुस्कराते हुए बुद्ध ने कहा,

"बोलो आनन्द, क्या शंका है?" "भगवन!" आनन्द ने पुनः साहस किया और पूछा, " मक्खी तो आपने पहली बार में ही उड़ा दी थी फिर दुबारा यह हाथ किसलिए गया, अगर इसमें कोई गोपनीय कारण न हो तो मैं प्रार्थना करूंगा कि वह हमें बताया जाये।" बुद्ध बोले, "वत्स ! मैं उपदेश में डूबा हुआ था, चेतना की एक विशेष स्थिति को व्यक्त करने में दूसरे स्तर पर एकाग्र था। इधर शरीर को किसी क्रिया की आवश्यकता हुई और उसने यांत्रिक रूप से कर दी। मैं इस क्रिया को करते समय सचेतन नहीं था। यह मेरी अचेतन क्रिया थी, पूर्ण रूप से शारीरिक। किसी भी समय, किसी भी स्तर पर, अचेतन रहकर क्रिया करने की आदत न पड़ जाये, इसीलिए इस क्रिया विशेष को अभ्यास के रूप में मैंने सचेतन होकर किया। जो भूल थी उसका संशोधन किया। जिससे कि अचेतन क्रिया के स्थान पर सचेतन कर्म का, सचेतन होकर की गई क्रिया का संस्कार, उसका अभ्यास पड़े और अचेतन क्रिया की भविष्य में पुनरावृत्ति न हो।

भगवान बुद्ध की पहली अचेतन क्रिया में शरीर कर्ता है, वह शरीर तक ही सीमित है। दूसरी सचेतन क्रिया विश्व कर्म का अंग है, भागवत चेतना की अभिव्यक्ति है। पहली में शरीर पृथकत्व के भाव से ग्रस्त है अतः शास्त्रीय भाषा में कुछ नहीं है, उसका कोई महत्व या अर्थ नहीं है, दूसरी में हम सम्पूर्ण

विश्व हैं अतः सब कुछ हैं। पहली क्रिया शरीर अपने लिए कर रहा है, दूसरी में विश्व प्रकृति कर रही है और हम पूर्ण साक्षी भाव से सर्वत्र विराजमान हैं।

हमारा वर्तमान जीवन जिसे बाह्य पुरुष इंद्रियों के द्वारा यापित करता है हमें वस्तुओं के आंतरिक सत्य से, उनके सत्य स्वरूप से वंचित रखता है और इसी दृष्टिहीन जीवन को जीवन कहते-समझते हम युगों से चले आ रहे हैं। खेद की बात है कि यह हमें अखरता नहीं, हम इसके अभ्यस्त हो गये हैं। हमारे स्वभाव में इसकी जड़ गहरी उतर गयी है। हमने इसे पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। सहमति दे चुके हैं। लेकिन जब कभी किसी अप्रत्याशित घटना से, चमत्कार भरी घड़ी में अपने को पाने से, अज्ञान-अंधता की इस काली रजनी में पाली-पोसी मोह-निद्रा से हम जाग जाते हैं तो हम आश्चर्य के साथ अफसोस करते हैं और अपने आप को एक गहन असंतोष से घिरा पाते हैं।

यह भी देखने में आता है कि इस प्रकार की आंतरिक संकटकालीन घड़ियों में, जब हमारे चारों ओर निराशा और अंधकार छा जाते हैं, हम हृदय-स्थित जीवन-स्वामी के चरणों में झुक जाते हैं, उनकी शरण ग्रहण करते हैं और अपनी हृदय पुस्तिका का हर पृष्ठ उनके सम्मुख खोलकर आत्म-निवेदन करते हैं। ये ही मानव जीवन में वे स्वर्णिम क्षण होते हैं, जब

अंतःपुरुष सामने आकर सजग रहने का, सचेतन बनने का, पाठ हमें पढ़ाता है और सौभाग्य द्वार खोलकर अंतर्स्थित स्वर्ग के साम्राज्य की चाबी हमारे हाथ में सौंप देता है।

श्रीमाताजी कहती हैं– "मैं अस्तित्व के हर स्तर पर , हर समय सचेतन हूँ," और वे हैं।

अपनी सीमित समझ के अनुसार इस अनुभूति का, इस स्थिति का, अगर हम सविस्तर वर्णन करें तो इस प्रकार कह सकते हैं– जब हम व्यक्त और अव्यक्त आत्मा की दोनों अवस्थाओं में सचेतन होकर परम पुरुष के विषय में भी सचेतन हो जाते हैं, जिसने अपने आप को इन दोनों अवस्थाओं में अभिव्यक्त किया है तथा साथ ही उस परमोच्च तत्व के विषय में भी सचेतन हो जाते हैं, जो इन तीनों अवस्थाओं में हमारे ज्ञान के सम्मुख प्रकट होता है ; तब, केवल तभी, हम 'पूर्णयोग' की भाषा में पूर्ण सचेतन हैं और इसे हम सचेतनता की पराकाष्ठा कहने का युक्तियुक्त साहस कर सकते हैं।

सचेतनता की पराकाष्ठा को पूर्णतः व्याख्यायित करने के लिए, उसका आस्वादन लेने के लिए हमें अब तक के सब मानदंडों को पीछे छोड़ कर उनके परे अतिमानसिक स्तर पर सचेतन होना होगा। अतिमानसिक सचेतनता ही वह स्थिति है जिसमें भागवत एकत्व और अनेकत्व दोनों स्तर पर सचेतन

होकर साथ ही प्रकृति के विषय में भी, उसकी हर क्रिया प्रणाली और शक्तियों के प्रति भी हम सचेतन रह सकते हैं।

इस स्थिति में साधक की अनुभूति इस प्रकार होती है। हमारी व्यक्तिगत सत्ता तथा विश्व सत्ता का मूलभूत सत्य एक ही है। वह एक जिसे परम तत्व, परात्पर, परम पुरुष, निरपेक्ष सत् आदि नामों से दर्शन शास्त्रों में संबोधित किया गया है। यह निरपेक्ष एकतम सत् जो नित्य चेतन है, अपने स्वभाव में आनंदमय है। इस विश्व में या इससे परे जहाँ भी जो कुछ है सब यही है। वेदों में जो अस्तित्व के सात स्तर हैं— भूः, भुवः, स्वः, आदि इसी परम तत्व की आत्म-अभिव्यक्ति हैं। सचेतनता की सर्वोच्च अवस्था में, अस्तित्व के इन सातों स्तरों या सोपानों के प्रति हम सब समय सचेतन रह सकते हैं।

हमारी आत्मा की भांति जब हमारे यंत्रों की चेतना, शरीर के कोशाणुओं की चेतना भी अतिमानस में आरोहण करती है और अतिमानसिक चेतना के साथ तादात्म्य लाभ करने में समर्थ हो जाती है तब हमारी सचेतनता पूर्ण एवं सर्वांगीण होती है।

अतिमानस, जिसे वेदों में महः और उपनिषदों में विज्ञान, या सत्यम्-ऋतम्-बृहत् कहा गया है, वह सत्य चेतना है जिसके द्वारा परम पुरुष का यह अनन्त विस्तार, उनकी यह असीम अभिव्यक्ति, यह जगत, इसकी हर वस्तु व्यवस्थित की

गई है। और जिससे यह सब, ये ब्रह्माण्ड, ये सृष्टियाँ, प्रेरित-चालित तथा सर्जित होती हैं।

व्यक्तिगत स्तर पर अपनी सत्ता के हर भाग को पूर्ण सचेतन बनाने का जो प्रयास हम कर रहे हैं उसकी सर्वोच्च अवस्था को बोधगम्य करने के लिए श्रीमाताजी की शारीरिक चेतना के विकास की अनुभूतियों में से एक का निरूपण हम यहाँ कर रहे हैं। श्रीमाताजी कहती हैं, "मैंने आज जगत को ऐसे देखा है जैसे भगवान देखते हैं," फिर अपने बायें हाथ की त्वचा को पकड़कर दिखाते हुए कहा, "इस शरीर ने............"

देह कोशिकाओं के स्तर पर श्रीमाताजी सचेतन थीं। उनमें वे उद्घाटन ला चुकी थीं। उन्हें रूपांतरित कर चुकी थीं; भले ही सब कोशिकाओं को नहीं, फिर भी पर्याप्त मात्रा में, कम से कम उतनी मात्रा में जितनी उस समय उनके कार्य के लिए आवश्यक थी। उनकी अगली अनुभूतियों से यह स्पष्ट है। उन्होंने रूपांतरित अथवा सचेतन कोशिकाओं को लेकर अपना एक अन्य शरीर निर्मित किया था और इस प्रकार कुछ वर्षों तक इन दोनों शरीरों में एक साथ रह रही थीं।

सचेतन कोशिकाओं से निर्मित यह शरीर अपने ही ढंग का है। सूक्ष्म होते हुए भी सूक्ष्मता से बंधा नहीं है। किसी भी क्षण, एक पग आगे रखने की भांति, पूर्ण रूप से भौतिक हो सकता है। बिलकुल ठोस रूप में व्यवहार कर सकता है और

साथ ही अपनी सूक्ष्मता को भी, अगर वह चाहे, बनाये रख सकता है। यह शरीर विश्व प्रकृति की शक्तियों से पूर्णतः स्वतंत्र है। उन पर किसी प्रकार भी निर्भर नहीं करता। इसका जीवन, इसकी चेतना इसकी शक्ति, इसकी क्षमताएं सब प्रकार से हमारे आत्म-संकल्प पर निर्भर करती हैं। यह स्थान के बंधन में नहीं, आकार की सीमाओं से बंधा नहीं। कहीं भी, किसी समय भी, कितने ही रूपों में अपने आपको प्रकट कर सकता है। यह शरीर विकसनशील है। उत्तरोत्तर इसकी क्षमताएँ बढ़ायी जा सकती हैं। चेतना के विकास के साथ इसका विकास होता है। क्षमताएँ बढ़ती हैं। यह भौतिक शरीर से बिलकुल भिन्न प्रकार का है। इसके गुण, धर्म, स्वभाव, रचना, क्षमता, शक्तियाँ, सामर्थ्य, स्थिति सब भिन्न प्रकार की हैं।

रूपांतरित शरीर को जब तक हम चाहें पृथ्वी पर रख सकते हैं। एक प्रकार से यह हमारे आत्म-संकल्प की भौतिक तथा सूक्ष्म दोनों स्तरों के मध्य कुछ नये तत्वों के संमिश्रण से बनी नयी वस्तु जैसी एक नयी अभिव्यक्ति है। धरती के इतिहास में एक नया तत्व है।

सचेतन कोशों से बने इस शरीर के पृथ्वी पर स्थायी रूप से रहने की संभावना में ही श्रीमाताजी के अपने भौतिक शरीर को त्यागने का रहस्य, उसका गुह्य कारण छिपा है। यह शरीर जिस नये तत्व से निर्मित है उसकी आवश्यकताओं को, उसके

अनुकूल वातावरण को, दृष्टिकोण में रखते हुए, हम अपने समीप सूक्ष्म भौतिक जगत में इसके लिए एक गृह जैसा स्थायी स्थान निर्मित कर लेते हैं, जहाँ यह निर्विघ्न रूप से अपनी साधना करता है, अपनी क्षमताओं तथा सीमाओं को बढ़ाता है। मानव आत्मा, चैत्य पुरुष और पार्थिव तत्व के बीच यह एक कड़ी के रूप में है। इसकी सहायता से भौतिक और अतिभौतिक तत्व के बीच ठोस रूप में आदान-प्रदान, व्यवहार और व्यापार किया जा सकता है। सचेतन अर्थात् रूपांतरित शरीर संसार के लिए श्रीमाताजी तथा श्रीअरविंद की एक अद्‌भुत देन है।

श्रीअरविंद ने अपने तपोबल से जिस अतिमानसिक गंगा को पृथ्वी पर उतारा, उसे शरीर में और उसकी कोशिका रूपी क्यारियों में प्रवाहित करने का अभूतपूर्व असंभव-सा कार्य श्रीमाताजी ने अपने साधना बल से सम्पन्न किया। यह भौतिक तत्व पर आत्मा की, अदिव्य पर दिव्य की स्थायी विजय है।

इस भौतिक तथा अभौतिक मिश्रित-से तत्व की अभिव्यक्ति संसार में एक नयी वस्तु है। यह अतिमानसिक शक्ति के प्रभाव से सृष्टि में उत्पन्न हुई है। यही कारण है कि शारीरिक रूपांतर की प्रक्रिया में कुछ परिवर्तन अकस्मात् देखे गये। उनमें एक सामान्य-सा यह भी है कि श्रीमाताजी के भौतिक शरीर की उपस्थिति अनावश्यक समझी गई। अतः उसे

शान्त कर दिया गया। सचेतन कोशों से निर्मित दूसरा शरीर जो प्रायः ही आश्रम प्रांगण में क्रियारत पाया जाता है, जो कि रूपांतर के महान और अति दुरूह कार्य को बिलकुल सरलता से सुसम्पन्न करने में सब प्रकार समर्थ है, साधकों को सहायता प्रदान कर रहा है। श्रीमाँ की चेतना ने इसी संभावना को देखते हुए अपने ऊपर उस भार को वहन करना उचित नहीं समझा, जिसके बिना भी रूपांतर का कार्य साधित हो सकता है। अतः जो चेतना इस शरीर के द्वारा रूपांतर की, इसके दिव्यीकरण की साधना कर रही थी, उसने अपने आपको इस शरीर से वापिस खींच लिया।

सचेतन कोशिकाओं से निर्मित शरीर, अतिमानसिक ज्योति में रूपांतरित एक दिव्य शरीर होगा। एक यौगिक प्रक्रिया के द्वारा हम अपने शरीर को अतिमानसिक रूपांतर के लिए तैयार करते हैं। सृष्टि-विकास-क्रम की सीढ़ी में यह एक नया डंडा है जिसका परिणाम जगत आनेवाली शताब्दियों में देखेगा।

———

आत्म-चेतना में उठना, उसमें निवास करना, संसार में दूसरों को भी उसका महत्व समझाना, उसके लिए प्रेरित करना, अंदर-बाहर भागवत उपस्थिति के प्रति सचेतन रहते हुए जीवन मार्गों पर चलना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है।

सांख्य के पार

प्रकृति से अपने आपको पृथक् करके हम मुक्त हो जाते हैं। हमारा मन शांत, शुद्ध हो जाता है, इंद्रियाँ अंतर्मुखी। हमारी चेतना ऊर्ध्वमुखी होकर जीवात्मा के साथ सतत एकत्व में निवास करती है। जीवात्मा को शास्त्रों में "बहु" पुरुष कहा है। इसका निवास स्थान श्रीअरविंद ने व्यक्ति के सिर के ऊपर बताया है। हमारा अंतरात्मा, जिसका निवास हृदय में है, इसी जीवात्मा का प्रतिनिधि, इसका प्रक्षेपण है। यही प्रकृति में उतरता है, प्रकृति से तदाकार रहकर भव-उपवन के मीठे-कड़ुवे फल खाता है। जीवन के अनुभवों से वृद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् विकास लाभ करता है। अपनी संपूर्ण सत्ता के सर्वांगीण विकास के लिए इसे बार-बार जन्म ग्रहण करना होता है, आवागमन के चक्र में घूमना पड़ता है। अनुभवों की एक विशेष पूर्णता पर पहुँचने के पश्चात् इसमें आत्म आलोक से आलोकित विवेक का उदय होता है। जिसके प्रकाश में यह मन की स्वाभाविक वृत्तियों को, इंद्रियों की विषयों के प्रति अनावश्यक, निरर्थक भूख को, प्राणमय पुरुष के जगत के प्रति सारहीन, खोखले आकर्षणों को, हमारे अहंकार के द्वारा प्रदत्त सांसारिक वस्तुओं के, वैभवों के, उपाधियों के मूल्यों को समझ जाता है। इनकी गति को परिवर्तित करता है और उन्हें आत्म-अभिव्यक्ति के लिए तैयार करता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति से पृथक्करण तथा पुरुष अर्थात् जीवात्मा के साथ तादात्म्य लाभ होते ही हम मुक्त हो जाते हैं। हम इसे व्यष्टि चेतना की मुक्ति कहेंगे।

हमारी मुक्ति का, मुक्तावस्था का द्वितीय स्तर समष्टि पुरुष भाव में है। हम विश्व चेतना में स्थायी रूप से निवास करते हैं। विश्व पुरुष के साथ हमारा तादात्म्य स्वाभाविक हो जाता है। यहाँ व्यक्ति चेतना अनंत चेतना सिंधु में, कालातीत शाश्वत चेतना स्तरों की ऊँचाई पर उड़ान भरती है। यह विश्व अपनी हर वस्तु और हर प्राणी के साथ हमारे अंदर होता है और हम अपनी चेतना में, अपने वैश्व व्यक्तित्व में, विश्व की हर वस्तु और हर प्राणी में होते हैं।

लेकिन हम इतने मात्र ही नहीं हैं। हमारी सत्ता का अर्थात् हम जो अपनी मूल सत्ता में हैं– उसका संपूर्ण विवरण इतना ही नहीं है। अभी भी एक पुरुष विशेष के चैतन्य में प्रवेश करना हमारे लिए शेष रहता है। यह पुरुष-विशेष परात्पर है, विश्वातीत है, विश्व के परे है। हमारा जीवात्मा इसी की सीधी अभिव्यक्ति है। सृष्टि के कण-कण में, इसी का दिव्य संकल्प अंतर्निहित है। यही अपने दिव्य संकल्प के साथ निवास करता है। यही वह परम आत्मा है जो बिना पृथक् हुए, अपने चरम अस्तित्व के एकत्व में रहते हुए, जीव रूप में विभाजित होता है। यही विश्व पुरुष है और सृष्टि को इसके लक्ष्य की ओर–

इसे प्रथम, इसके मूल से युक्त करने के लिए और तदोपरान्त उसकी दिव्यता में इसका दिव्यीकरण संभव बनाने के लिए–प्रेरित कर रहा है। यही व्यक्ति तथा विश्व दोनों की मूलभूत सत्ता है। हमारी सत्ता का सर्वोच्च अथवा गहनतम सत्य यही है। मानव आत्मा इसी परम आत्मा की अंश है। इसे ही शास्त्रों में परम पुरुष, परात्पर, परमेश्वर, परब्रह्म आदि नामों से संबोधित किया गया है। इसके साथ तादात्म्य लाभ करने के पश्चात् हमारे लिए यह अनुभूति सहज हो जाती है कि यहाँ अथवा वहाँ, जहाँ भी जो कुछ है, जो हम देखते हैं अथवा हमारी दृष्टि के लिए अगोचर है, वह सब इसी पुरुष विशेष का अपना, अपने अंदर, अपने लिए, अनंत आत्म-विस्तार है। मानव आत्मा इस पुरुष विशेष को जगत-पिता के रूप में देखती है, और इसे अपना जीवन, जीवन का हर कर्म, हर क्षण, हर भाव, विचार समर्पित करने में एक अलौकिक हर्ष, अतुलनीय आनंद अनुभव करती है। परात्पर चेतना में उठने के पश्चात् हमारी सत्ता में सब, अंदर-बाहर अध्यात्म-भावापन्न हो जाता है।

व्यक्ति चेतना के परात्पर चेतना में आरोहण के पश्चात् अन्य योग-मार्गों में आत्म-विकास संबंधी प्रायः कुछ भी करने को शेष नहीं रहता। परम शांति, अखंड आनंद, और पूर्ण ज्ञान में हमारी चेतना स्थायी रूप से स्थित हो जाती है। हम पूर्णतः

मुक्त हो जाते हैं। अमृत के सिंधु हमारी असीम सत्ता और चेतना में लहराते हैं।

परन्तु यह सब उपलब्ध होने पर भी, आत्मा की उच्चतम ऊँचाइयों को अधिकृत करने के उपरान्त भी, श्रीअरविंद एक विशेष दिशा में हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। उनका कहना है कि हमारी व्यक्ति-चेतना की भांति, हमारे मन-प्राण-शरीर की चेतना भी, अपनी सीमाओं से, स्वभाव से, मुक्त हो सकती है। उनका अपना अनुभव है कि हमारी सत्ता के निम्न भाग भी, अपने स्थूल आकारों के साथ, आत्मा की दिव्यता का अवतरण अपने अंदर संभव बना कर, दिव्य हो सकते हैं। संपूर्ण सत्ता का दिव्यीकरण, दिव्यता में उसका रूपांतरण, उनका अनुभव सिद्ध कथन है। उनके योग की, जिसे उन्होंने "पूर्णयोग" नाम प्रदान किया है, यही सिद्ध अवस्था है।

———

जिस दिव्य सूर्य के आलोक से हर हृदय-गुफा आलोकित है, हर हृदय-मंदिर ज्योतिर्मय है, जो सृष्टि के कण-कण में प्रतिबिम्बित है, हमारी आत्माएँ युग-युग से उसके प्रेम की प्यासी हैं। दर्शन की अभिलाषी हैं। हे मानव! उस परम पिता परमात्मा की खोज जीवन-लक्ष्य के रूप में निर्धारित कर।

शारीरिक अमरता

हम जो हैं वही रहते हुए कुछ और, श्रेष्ठतर नहीं बन सकते। व्यक्ति रहते हुए, व्यक्तिगत सीमाओं में बंद रहते हुए, विश्व-पुरुष नहीं बन सकते। अपने वर्तमान स्तर से किसी उच्च स्तर पर आरोहण करने के लिए हमें कुछ और करना, कुछ और बनना होता है। उदाहरणार्थ, अतिमानवता प्राप्त करने के लिए मानव को अपनी मानवता रूपी स्वाभाविक सीमाओं को अतिक्रम करना होता है। देवत्व लाभ के लिए मनुजत्व से ऊपर उठना होता है। ठीक वैसे ही जैसे शुद्ध मानव स्वभाव धारण करने के लिए, शुद्ध मानसिक चेतना को अभिव्यक्त करने के लिए हमें पशुता मिश्रित जीवन को पीछे छोड़ना होता है।

भौतिक स्तर पर अमरता लाभ करने के लिए, अपने इस पार्थिव शरीर को अमर बनाने के लिए हमें इससे चिपकी मृत्यु रूपी कैंचुली को उतार फेंकना होता है। उसके बने रहने के कारण को अपनी सत्ता में से अनावश्यक कह कर त्याग देना होता है। यह रूपांतर की सिद्धि में उसकी मध्यकालीन अवस्था की अनिवार्य प्रक्रिया है। आत्मा के प्रारंभिक विकास काल में जीवन और मृत्यु दोनों ही अवस्थाएं अनिवार्य हैं। अगर उत्तरोत्तर विकसित होती हुई हमारी व्यक्तिगत चेतना को एक

ऐसा स्तर प्राप्त हो जाये, एक ऐसी सचेतन प्रक्रिया ज्ञात हो जाये, जहाँ हमें अब और आगे विकास करने के लिए मृत्यु रूप द्वार से प्रवेश की अथवा मृत्यु रूप स्थल में पड़ाव की आवश्यकता न रहे और हम बिना मृत्यु में प्रवेश किये, बिना विश्राम लिए अपना विकास साधित कर सकें, तब स्वतः ही जीवन में मृत्यु की अनिवार्यता समाप्त हो जायेगी।

इस प्रक्रिया का दूसरा पक्ष है-- हमें एक ऐसी चेतना में उठना होगा जहाँ हमारा प्राचीन स्वभाव पूर्णतः परिवर्तित हो, संस्कारों से न केवल हमारी मानसिक चेतना वरन् हमारी प्राणिक एवं शारीरिक चेतना भी पूर्णतः मुक्त हो। हमारी दृष्टि नये क्षितिजों की ओर अभिमुख हो। हमारी विचार-धारा मानसिक न होकर अतिमानसिक हो। चेतना का परिवर्तन अर्थात् पशु स्वभाव संबंधी सभी वृत्तियों का पूर्णतया परित्याग अतिमानसिकता में उत्थान की प्रथम अनिवार्य शर्त है।

अवश्य यह एक कठिन कार्य है। मृत्यु को हमने अब तक ध्रुव-सत्य माना है। इस संस्कार की जड़ें हमारी अवचेतना में गहरी जमी हैं। उन सबको उखाड़ फेंकना सरल नहीं है। दूसरे, हमारी शारीरिक चेतना हमारी मानसिक चेतना की अपेक्षा कम नमनीय है। अपने स्वभाव में कठोर है। सरलतापूर्वक किसी उच्च या दिव्य प्रभाव की ओर उद्घाटित नहीं होती। स्वभावजनित विरोध उत्पन्न करती है। फिर शरीर तो अपने आप में और भी

अधिक स्थूल तथा कठोर है। वह अपने आप में बिलकुल बंद है। वहाँ आज तक किसी ज्योति या ज्योतिर्मय प्रकंपनों के प्रवेश की स्वाभाविक रूप से कोई संभावना कभी नहीं देखी गयी और आज भी वह अपने प्राचीन अभ्यासगत स्वभाव को पकड़े बैठा है।

वर्तमान मानव एक ओर बौद्धिक स्तर पर इतना विकसित होते हुए भी, दूसरी ओर उसकी शारीरिक चेतना किसी दिव्यीकरण में, सत्ता के रूपांतर में, भौतिक तत्व की अमरता में, विश्वास नहीं करती। उसके जीवन का जो विधान युगों से चला आ रहा है वह उसे ही अंतिम सत्य मानती और बनाये रखना चाहती है। अपनी जड़ता से, अंधता से, विघटन से, वह ऊबी नहीं, थकी नहीं, परेशान नहीं है। वह इसे स्वाभाविक मानकर, जीवन के अंग के रूप में स्वीकार कर रही है। इससे भिन्न प्रकार के जीवन को, चाहे उसका परिणाम कितना भी उच्च हो, भव्य हो, स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

शरीर के रूपांतर में सबसे बड़ी कठिनाई, उसमें अड़चन यही है कि वह जो है, उससे बाहर, उससे परे कुछ भी सुनने-समझने को तैयार नहीं है। इस प्रकार की कठोरता, यह अंधा हठ उसके रूपांतर में बाधा उत्पन्न करता है। इसके विपरीत अगर शरीर अर्थात् इसकी कोशिकाएँ रूपांतर के तथ्य को स्वीकार करें, इसके प्रति उनमें अभीप्सा जागे और साथ ही दूसरी ओर विघटन के प्रति एक प्रतिरोध भरा-सा संकल्प इनके भीतर क्रियाशील हो

उठे– जिसका व्यावहारिक तथा भावात्मक परिणाम होना चाहिये नयी चेतना के, अर्थात् अतिमानसिक चेतना के प्रति उद्घाटन, आत्मभावापन्न नमनशीलता और सर्वांगीण निरहंकारिता, एक हर्ष से भरा समर्पण का भाव– तो यह वही स्थिति होगी जिसकी शरीर से मांग की जाती है और जिसपर इसका रूपांतर निर्भर करता है।

शारीरिक चेतना में उद्घाटन रूपांतर के लिए अपेक्षित, अनिवार्य स्थिति है। उसके पश्चात ही हम शरीर में, उसकी कोशिकाओं में किसी उद्घाटन की आशा कर सकते हैं। यह क्रम हड्डियों तक पहुंचता है। उनमें भी उद्घाटन आना चाहिये। शरीर के रूपांतर में यह अंतिम स्थिति है। अतिमानसिक ज्योति का दिव्य स्पर्श प्राप्त कर इस जगत का कोई भी तत्व अपने मूल स्वरूप में रूपांतरित हो सकता है। हम सब की मान्यता है कि पारसमणि अपने स्पर्श से लोहे को कंचन में परिवर्तित कर सकता है। अगर एक जड़ वस्तु का इतना महान प्रभाव है तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि अतिमानस जैसी चेतन शक्ति मानव शरीर को अवश्य दिव्यता में रूपांतरित कर सकेगी।

धरती पर दिव्य जीवन तथा शारीरिक अमरता, श्रीअरविंद का एक सच्चा सुखद स्वप्न है। हम इसे स्वप्न की संज्ञा इसलिए प्रदान कर रहे हैं क्योंकि यह उनके द्वारा दूसरे स्तरों पर अनुभूत और उनकी दिव्य दृष्टि से देखा हुआ भावी सत्य है। उनके कथानुसार जैसे पशु जाति में से मानव जाति का

विकास हुआ है वैसे ही मानव जाति में से अतिमानव जाति का विकसित होना अवश्यंभावी है, अनिवार्य परिणाम है। सृष्टि-विकास-क्रम का यह अन्तर्निहित सत्य है। जग-विकास सदा-सर्वदा आगे बढ़ता जायेगा। विकासोन्मुखी सत्ता की स्वाभाविक गति यही है, जिसका कभी, कहीं, कोई अंत नहीं।

श्रीअरविंद के अनुसार इस प्रकार रूपांतरित व्यक्ति अतिमानव कहलायेगा। ऐसा व्यक्ति या ऐसे व्यक्तियों का एक समुदाय चाहे वह कितना भी छोटा हो– पृथ्वी पर मनुष्यों के बीच में, उनके सहायक के रूप में निवास करेगा।

हे जगदीश्वर ! वर दे कि जीवन में उत्थान, चेतना में उत्कर्ष, हमारा प्रथम कर्म हो, हमारी प्रथम उपलब्धि हो। आत्म-सत्य में, आत्म-चेतना में उठना, उसे जीवन में चरितार्थ करना हमारा लक्ष्य हो। हमारे हर भाव में, विचार और कर्म में, जग-जन मंगल-भावना प्रवाहित हो। पृथ्वी के हर प्राणी के साथ हमारे व्यवहार में आत्म-प्रेम प्रस्फुटित हो। हमारी आंतर और बाह्य सत्ता की हर क्रिया आत्म-कारुण्य से, आत्म-माधुर्य से ओत-प्रोत हो। हमारा मार्ग वही हो जिसके द्वारा हमारे पूर्वजों ने, हमारे ऋषि-मुनियों ने गंतव्य प्राप्त किया। हमारे जीवन का स्वरूप भागवत ओदश का पालन, उनके संकल्प की चरितार्थता हो।

श्रद्धा पथ है

शास्त्र-वचनों में श्रद्धा का होना अनिवार्य है। अन्यथा हम मानसिक चेतना की परिधि का अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं होंगे। आत्म-अज्ञान में भटकन बनी रहेगी। शास्त्र हमें समझाते हैं कि अपने स्वरूप के विषय में जो हमारी धारणा है, हम इतने मात्र ही नहीं हैं। यह हमारी सत्ता का अति अल्प-सा भाग है और एक विशाल भाग हमारी पहुँच के परे, इसके पीछे विद्यमान है।

हमारी कठिनाई है कि चाहे हम ईश्वर को मानें या न मानें, हमें वे दिखायी दें या न दें, हमें हर समय उन्हीं के साथ व्यवहार करना पड़ता है और हम इस विषय में अचेतन हैं। हम समझते हैं हम मनुष्यों से व्यवहार कर रहे हैं, किन्तु मनुष्यों के अंदर उनकी सत्ता के सत्य के रूप में, वे ही विराजमान हैं। हम पदार्थों को उपयोग में लाते हैं किन्तु इनमें भी वे हैं। उनकी उपस्थिति इन्हे घेरे हुए है, पदार्थ मात्र उनमें डूबा हुआ है। जगत में हम निवास करते हैं किन्तु यह उनका ही स्वरूप है। जिधर भी देखें सर्वत्र वे ही हैं। सब अस्तित्वों का मूल कारण वे ही हैं। यहाँ उन्हें छोड़ कर अन्य कोई नहीं। अतः हमारे अंदर ईश्वर के अस्तित्व में श्रद्धा का होना अनिवार्य है। अगर हम ईश्वर को मानते हैं तो अवश्य एक दिन उनकी प्राप्ति की अभीप्सा हमारे अंदर जागेगी। "श्रद्धावान् लभते ....।"

सचेतनता

हमारा चैत्य-पुरुष हमारा निवास आत्म-सत्य में देखना चाहता है। जिस परमात्मा ने संसार की सृष्टि की है और जो इसकी रचना करके इसमें छिप गया है उसकी खोज में संलग्न देखना चाहता है। कामनाओं की पूर्ति में नहीं, उसके प्रेम में डूबा देखना चाहता है। हमारे बहुत से जन्म हो चुके हैं। हम हर प्रकार का अनुभव प्राप्त कर चुके हैं। अब हमारे मन में ऐसी कोई स्पृहा नहीं रहनी चाहिये जो हमारी मानसिकता की व्यस्तता का कारण बने, हमारे हृदय की ज्योति को आच्छादित करे। हमारा मन पूर्ण रूप से प्रभु की ओर जाना चाहिये। हमें उनके लिए ही जीना चाहिये। सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति अनिवार्य होते हुए भी उनकी प्राप्ति को हम जीवन-लक्ष्य के रूप में निर्धारित नहीं कर सकते। हमें चाहिये कि जीवन-धारा ऊर्ध्वमुखी करें, आत्मा की ओर मोड़ें। उसकी उपलब्धि के लिए पुरुषार्थ करें जो कि एक विशिष्ट प्रकार की सचेतनता के द्वारा ही संभव है। आत्म-उपलब्धि की अभीप्सा ही हमारे जीवन का स्वरूप हो। जीवन में वही एकमात्र हमारा प्रयोजन हो। उसके अस्तित्व में बने रहने का कारण हो। उसी से प्रेरित रहना, उसी के अनुसार जीवन यापित करना हमारे रोम-रोम में स्पंदित संकल्प हो।

असतोमासद्गमय

हे मानव ! सरल बन। विनम्र हो। उदारता को स्वीकार कर। तेरे अंदर सुबुद्धि जागेगी। भीतर विवेक उत्पन्न होगा। ऊपर प्रज्ञा की किरणों का वर्षण होगा। तेरा पथ आलोकित। जीवन में तपस्या का, आत्म-संयम का, बलिदान का अर्थ समझ। हृदय में समर्पण को स्थान प्रदान कर। तू अपनी आत्मा के, जगत-पिता परमात्मा के समीप आयेगा। तेरा निवास सत्य में होगा। तेरा जीवन ज्योतिर्मय। सुख-शांति, चेतना से भरपूर।

भली प्रकार समझ ले ! अब तक जो जीवन तू जी रहा था, जिसे तू मानव-जीवन का पूर्ण स्वरूप समझ रहा है, वह आत्मा के आलोक से दूर था। वह अज्ञान-निशा थी, जिसमें तू सुप्त था। दुख-कष्ट की आँधियाँ ही जहाँ स्वाभाविक हैं। तुझे जगाने का एक मात्र साधन हैं। आत्मा के गुणों से, उसकी शांति, शक्ति, ज्योति, आनन्द से तू वंचित था। जहाँ आत्मा का सत्य, उसका आलोक नहीं, उस सबको मिथ्या, साारहीन समझ। तेरा हर कर्म, हर भाव, हर विचार आत्मा के प्रकाश से झलकना चाहिये। उसकी दिव्यता से ओत-प्रोत होना चाहिये। तेरा मंत्र होना चाहिये– "आत्मा की अभिव्यक्ति ही मानव-जीवन है। उसे धरती के आँगन में प्रवाहित करना मेरा कर्त्तव्य है।" संसार में मनुष्य के जीवन का यही स्तर जगदीश्वर देखना चाहते हैं।

मानव जीवन-धारा

जीवन-धारा को किसी भी ओर मोड़ा जा सकता है। वह अधोगामी हो सकती है और ऊर्ध्वगामी भी। अधोगामी गतिधारा में सर्वत्र अज्ञान का प्रदेश है। हमें दुख-कष्टों में से गुजरना होता है, शीश पर भय का व्याल मंडराता रहता है। हृदय पर निराशा के बादल छाये रहते हैं, उनका अंधकारपूर्ण पथ ही हमारा जीवन मार्ग होता है जो सदैव ही पतन से और अधिक गहरे पतन में ले जानेवाला होता है। मन-बुद्धि कुछ भी सही नहीं सोच पाते। विवेक से हम कट जाते हैं। प्रेरणा का स्रोत सूख जाता है। आशा का तीर दूर-सुदूर हटता चला जाता है। हम आत्मिक शांति से भरे, आत्म-विकास रूपी सुखद फल प्रदान करनेवाले, हर्ष से ओत-प्रोत जीवन के स्थान पर अपने प्राणिक अहं में बंद होते चले जाते हैं।

ऊर्ध्वगामी मार्ग प्रकाश का क्षेत्र है। यहाँ नित नूतन सुख के द्वार हमारे सम्मुख खुलते जाते हैं। आत्मा के ऊपर से आवरण दिन-दिन दूर होता जाता है। एक ईश्वरीय विधान, एक दिव्य प्रेरणा, हमारे कर्मों को, मन, विचार, भावों को अधिकृत करती है, उन्हें सही दिशा प्रदर्शित करती है, उनपर उच्च चेतना का वर्षण होता है। हमारा हर कर्म सत्य की अभिव्यक्ति होता है, आत्म-अनुसंधान में एक और सुनिश्चित पग होता है। आत्म-प्रेरणा और समर्पण के भाव ही हमारे जीवन के आधार-स्तंभ होते हैं। हम अधिकाधिक

अहंशून्य तथा विनम्र हो जाते हैं। सुख-भोग की कामना, स्वार्थ की भावना, अहंप्रेरित बाह्य पुरुष की हठी और अंधी महत्वाकांक्षाएं हमें छोड़कर चली जाती हैं। जीवन की बागडोर प्रभु के हाथ में होती है। जीवन का हर व्यापार उन्हीं के इंगित पर चलता है। पथ वे ही दर्शाते हैं, पग में बढ़ने की शक्ति उनकी होती है; जीवन उनका, जीवन-स्वामी वे होते हैं। हम उनके हाथों की वंशी बन जाते हैं और केवल इतना मात्र सोचते-विचारते हैं कि हमारे समर्पण में कहीं कोई त्रुटि तो नहीं, छिद्र तो नहीं, अहंकार का छींटा तो नहीं। वह सर्वांगीण, स्वतःस्फूर्त तो है ! और जब हम कुछ और आगे बढ़ते हैं– यह सोचने का अधिकार, अपने विषय में किसी प्रकार का प्रेक्षण– भी समाप्त हो जाता है। हम पूर्ण रूप से प्रभु के हो जाते हैं। वे ही हमारे अंदर निवास करते हैं और वे ही जैसे चाहें इस सत्ता का संचालन करते हैं। हमारा हर कर्म, उन्हीं अंतर्यामी के संकल्प की अभिव्यक्ति होता है। हर स्तर पर उनके साथ पूर्ण तादात्म्य को संभव बनाने में एक सुनिश्चित पग होता है। हम प्रभु में प्रवेश पा जाते हैं। प्रभु ने हमें स्वीकार कर लिया, यह विश्वास हमारे रोम-रोम में भर जाता है। हमें उनके यंत्र बनने का परम सौभाग्य प्राप्त होता है, जिसे अनुभव कर हम मुदित मन और अधिक उनके होने की अभीप्सा तथा चेष्टा करते हैं।

हमारी जीवन-धारा हमारे जीवन-लक्ष्य पर निर्भर करती है। लक्ष्य जितना महान और दिव्य होगा, जीवन भी उतना ही महान

तथा दिव्य बनेगा। उतना ही अहं के लिए कम और आत्मा के लिए अधिक होगा। एक जिज्ञासु के जीवन का लक्ष्य होता है भगवद् प्राप्ति। भागवत आदेशानुसार जीवन यापन करना। भागवत स्वभाव और भागवत प्रकृति में अपने मानव-स्वभाव और मानव-प्रकृति का रूपांतर करना।

———

भगवान को जीवन समर्पित करने से, भगवान के लिए, भगवान का होकर जीने से, भगवान मिलते हैं। उन्हें समर्पण करने से, जीवन-मार्गों पर सफलतापूर्वक चलने के लिए वे हमें आवश्यक क्षमताएं प्रदान करते हैं। सृष्टि उनका अपना स्वरूप, अपना कर्म, अपनी आत्म-अभिव्यक्ति है। इसकी रचना उन्होंने की है। रचनात्मक कर्म अभी जारी है। पूर्ण नहीं हुआ। सृष्टि का पूर्णतम स्वरूप अभी दूर है। उससे पहले एक अति महान कार्य होना प्रसंभाव्य है। सृष्टि-विकास-क्रम में चेतनाओं के कई महत्त्वपूर्ण स्तरों का अवतरण, उनकी अभिव्यक्ति शेष है। जिनमें प्रथम, अभी निकट भविष्य की अवश्यंभावी घटना होगी– मानव जाति में से एक देव जाति का, अतिमानव जाति का पृथ्वी पर प्रकटन। अतिमानव मनुष्य से श्रेष्ठ होगा जैसे मनुष्य पशु से है।

मानव-आत्मा तथा जीवात्मा

हमारे ऋषियों का यह कथन ध्रुव-सत्य है। हम इसमें अपने अनुभव को संयुक्त कर कह रहे हैं कि हर मनुष्य के अन्दर, उसके हृदय में दीपक की लौ की भांति एक दिव्य, जीवंत, चेतन सत्ता विद्यमान है, 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः'। किन्तु इसका स्वरूप सबमें समान नहीं है। मानव-चेतना के विकास के अनुसार इसके स्वरूप में वृद्धि होती है। प्रारंभ के जन्मों में यह केवल एक स्फुलिंग के रूप में ही गोचर होती है। मनुष्य जितना विकसित होगा, उतने ही अधिक प्रकाश के साथ यह अग्निशिखा उसके जीवन-मार्गों को प्रकाशित करती है, उसे आत्म-सचेतनता में उठाती है।

जीवात्मा की स्थिति भिन्न है। वह सिर के ऊपर एक विशाल प्रकाश-परिधि के मध्य, एक शुद्ध ज्योति-पुंज के समान स्थित है। उसे यह ज्ञान सतत रहता है कि वह मुक्त है। जीवात्मा अपने नीचे, दूसरी वस्तुओं के साथ हमारे शरीर को स्पष्ट खाते-पीते, सोते-जागते, कर्म करते, चिन्तन में डूबे देखता रहता है। जब सिर के ऊपर जीवात्मा के साथ हमारा तादात्म्य होता है, तब निश्चय ही हम अपने आसन पर ध्यानस्थ होते हैं और गहरे डूबे होते हैं। हमें बाहर का कुछ भी पता नहीं रहता। इस ध्यानस्थ शरीर को और इसके साथ,

इसके आस-पास की वस्तुओं को हम ऊपर, जीवात्मा बन कर, स्पष्ट देखते हैं। हमारी आत्मा, जिसका स्थान हृदय में है, हमारे जीवात्मा के द्वारा एक प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित की जाती है। यह आत्मा ही हमारी यांत्रिक सत्ता के साथ, मन प्राण शरीर तथा अहंकार के साथ तादात्म्य के द्वारा संसार में जीवन के अनुभवों को ग्रहण करती है और उनके द्वारा विकास को प्राप्त होती है।

अंतर्यामी ईश्वर का निवास भी हमारे हृदय में ही है, 'हृ द्देशे तिष्ठति'। किन्तु उसके साथ तादात्म्य लाभ करने के लिए हमें अधिक गहराई में जाना होता है, 'गुहायाम्'। उसकी प्राप्ति की शर्तें भी विशिष्ट हैं, जिनमें हृदय का वासना हीन होना, मन से इच्छाओं का त्याग, प्राण-प्रकृति की शुद्धि, इंद्रियों का अंतर्मुख होना, अहंकार के लोप के साथ प्रभु-शरणागति अनिवार्य स्थिति है।

अगर हम सब समय भागवत उपस्थिति से घिरे हुए अनुभव नहीं कर रहे हैं, अगर हमारी यह प्रतीति ठोस नहीं है कि भगवान हमें देख रहे हैं तो हम अभी आध्यात्मिक-चेतना में प्रवेश से दूर हैं। हमारे हृदय का आवरण गिरा नहीं। आत्मिक दृष्टि अभी खुली नहीं। हमें अपनी अभीप्सा को और तीव्र, समर्पण के भाव को और जीवन्त और अधिक परिपूर्ण बनाना है।

आत्म-विकास-धारा

सुखी होना, सुख-पूर्वक जीना हम सभी चाहते हैं। सुख की प्राप्ति, सुख में निवास सबको सुहाता है। किन्तु हमें यह समझना है कि सुख की चाह, हमारे बाह्य व्यक्तित्व की, मन शरीर इंद्रियों की मांग है। हमारे अंदर, हमारी आन्तरिक सत्ता की स्थिति, उसका स्वभाव भिन्न है। वह सुख-भोग नहीं, आत्म-साक्षात्कार को जीवन-लक्ष्य के रूप में अपना कर संतुष्टि अनुभव करती है। मानव-आत्मा संसार में सुख-भोग के लिए अवतरित नहीं होती। वह आत्म-विकास के लिए आती है। हर आत्मा विकास को अपने ढंग से साधित करती है। प्रारंभ के जन्मों में हम अपने लक्ष्य के प्रति सचेतन नहीं होते। हमारे जीवन का स्तर सामान्य रहता है। सुख-भोग, इच्छाओं की पूर्ति, लोभ-मोह आदि में ग्रस्तता ही जीवन का स्वरूप होता है। धीरे-धीरे हमारे अंदर सुबुद्धि विकसित होती है और कुछ आदर्शों की पूर्ति को हम अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में चुनते हैं। धार्मिक भाव, परोपकार, जन-सेवा, देश-सेवा आदि कर्म हम अपने सम्मुख रखते हैं। अपने विकास के उच्चतम शिखरों पर हम पूर्ण रूप से भगवान की ओर मुड़ जाते हैं। भगवान को समर्पण, उनके आदेश का पालन, अंतस्थ आत्मा के स्वभाव की चरितार्थता, आत्म-सत्य में, आत्म-चेतना में

निवास हमारा लक्ष्य होता है। हमारे अंदर उच्चतम विवेक जागता है। हम अपनी सत्ता तथा जगत सत्ता के सत्य के प्रति सचेतन होते हैं और अपनी सत्ता को, संपूर्ण जीवन को प्रभु-चरणों में समर्पित करते हैं। हमारी दृष्टि में जीवन के समस्त अनुभवों का सार, अगर एक शब्द में व्याख्यायित करें, तो वह इस प्रकार होगा– संसार के सारे सुख-भोग मिलकर भी भगवान के लिए भगवान का होकर कर्म करने की तुलना में नीरस हैं, तुच्छ हैं।

समस्त ज्ञान-विज्ञान का मूल एक अखंड परम चैतन्य है। सब उसी से आया है। उसी की अभिव्यक्ति है। उसी की धाराएँ हैं। संपूर्ण सृष्टि उसी से प्रेरित है। बुद्धिहीन हो या बुद्धिमान सबके पीछे वही है। निश्चेतन-सी, जड़ भासित होने वाली इस सुंदर सृष्टि के, इस भव-उपवन के मूल में वही अतिचेतन है, उसी का वेग स्थित है। अनंत ब्रह्माण्डों का विस्तार उसी के संकल्प की चरितार्थता है। सारे रहस्य उसके अपने हैं, उसके अपने अंदर हैं। सृष्टि-रचना में भासित अखिल आश्चर्यों का आधार वही है। सब चमत्कार उसी से जन्म लेते हैं। वह परम चैतन्य एक अद्भुत, कल्पनातीत एवं अनिर्वाच्य तत्व है। सृष्टि अपने आपमें उसी की योजना का एक अति अल्प-सा प्राकट्य है।

हम जागें

जब तक हम आत्म-सत्य में नहीं जागेंगे, मैं आत्मा हूँ और शरीर केवल एक यंत्र है इस मनोभाव में नहीं उठेंगे, आत्मा की मांग को प्रथम कर्त्तव्य के रूप में नहीं चुनेंगे, शास्त्र की वाणी के अनुसार जीवन-दिशा को मोड़ प्रदान नहीं करेंगे हमारा चेतना-स्तर उत्थान लाभ नहीं करेगा। आत्मा की उन्नति रुकी रहेगी। जीवन-स्वामी की सहायता से हम वंचित रहेंगे। आत्म-विकास का ज्योतिर्मय स्तर हमें प्रदान नहीं किया जायेगा। जहाँ सब सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अभिव्यक्ति होता है।

अतः कहता हूँ कि हे मनुष्यो ! जागो। मानसिक चेतना की परिधि का अतिक्रमण करो। एक उच्च, दिव्य, आध्यात्मिक चेतना को अपने जीवन तथा कर्मों का आधार बनाओ। तभी हमारा निवास आत्म-सत्य में संभव होगा। आत्म-सत्य में निवास ही वह आदर्श कर्म है जिसकी निष्पन्नता के लिए आत्मा पृथ्वी पर अवतरित होती है और जब तक इसे संसिद्ध नहीं कर पाती वह संतुष्ट अनुभव नहीं करती। संसार में अपने आगमन को सफल नहीं समझती। आत्म-सत्य में निवास, कर्मों में उसकी चरितार्थता निस्संदेह मानव-जीवन की सच्ची सफलता है। मानव-व्यक्तित्व में आत्मा की विजय है।

जगत और हम

जिस जगत में हम निवास कर रहे हैं, जो हमें एक दुख भरा धोखा-सा, मायाजाल-सा दिखायी देता है, वास्तव में ऐसा नहीं है। यह हमारी मानसिक दृष्टि है जिसमें जगत हमें ऐसा, एक सारहीन, लक्ष्यहीन जीवन का सिलसिला-सा अनुभव होता है। किन्तु मनुष्य के पास उसकी मानसिक दृष्टि ही सब कुछ नहीं है। उससे ऊँची, उससे गहरी दृष्टियाँ भी हैं। जो वस्तुओं के सत्य के अधिक समीप हैं और हमारे सामने उन्हें भिन्न रूप में प्रदर्शित करती हैं। अगर हम बाह्य सत्ता से पीछे हट कर, गहराई में स्थित होकर, आंतरिक प्रदेश की स्वाभाविक दृष्टि से अपनी सत्ता का, जीवन का तथा अपने चहुँ ओर जगत का अवलोकन करें तो हमें वस्तुओं का सही स्वरूप दिखायी देगा। इन जड़ प्रतीत होने वाली वस्तुओं में चेतन पुरुष का दर्शन होगा। एक जीवंत दिव्य उपस्थिति से वातावरण भरपूर दिखायी देगा। इसी उपस्थिति से, इस दिव्य पुरुष के कारण ही जगत के सब क्रिया-कलाप चलते हैं। इन असंख्य रूपों में वही एक अरूप सत्ता रूपवान है। प्राणियों में वही जीवन है। यहाँ जो कुछ है, जो हमें दीखता है और जो नहीं दीखता, इस सब के अस्तित्व का कारण वही है। सब कुछ उसी के द्वारा चालित-प्रेरित है, अस्तित्व धारण करता है, अस्तित्व में है। सब कुछ उसमें है और वह सब कुछ में। हमारे मन, बुद्धि

इंद्रियाँ भले ही इस तथ्य को आज मानने को तैयार नहीं, किन्तु एक दिन मानते हैं। यह ध्रुव-सत्य है कि यहाँ जो भी है, था या घटित होगा वह सब उसी के संकल्प की अभिव्यक्ति है; क्योंकि वह दिव्य अस्तित्व ही विश्व के अस्तित्व का एक मात्र कारण है। विश्व-जीवन का मूल जीवन है। उसी की चेतना से यह प्रेरित है। अतः हम विश्व-जीवन में उत्थान की, एक उच्चतर सामंजस्य की, स्वर्गिक वातावरण की आशा कर सकते हैं। वह स्वयं सत् परम देव अपनी दिव्यता को धारण किये समस्त संभावनाओं के साथ प्राणी मात्र में, कण-कण में स्थित है। वह चाहता है कि मनुष्य अपने सीमित व्यक्तित्व से ऊपर उठे, अपनी वर्तमान अज्ञानमय स्थिति का अतिक्रमण करे, अपने अस्तित्व के सर्वोच्च स्तर पर प्रतिष्ठित हो और अब तक की चली आ रही प्रकृति की दासता से मुक्त होकर सत्यमय जीवन व्यतीत करे। अतः यह प्रसंभाव्य है कि यहाँ कभी भी, कोई भी चमत्कार घटित हो सकता है, यहाँ की हर वस्तु आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित हो सकती है। एक दिन यह अवश्य संसिद्ध होगा, क्योंकि यह सृष्टि का आंतरिक सत्य है, अंतर्गर्भित तथ्य है। बाह्य वस्तु अपने आंतरिक सत्य की अभिव्यक्ति होती है। जो भीतर है, अवश्य बाहर व्यक्त होता है। भले ही मनुष्य की अंतर्सत्ता आज बाह्य व्यक्ति-चेतना और अहंभाव से आच्छादित है, किन्तु जब वह भीतर की ओर दृष्टि घुमायेगा, अपने प्रेरक-चालक प्रभु को आत्म-समर्पण

करेगा, अपने सारहीन, दुखमय जीवन को इस अन्तःस्थित पुरुष की शांति, शक्ति, ज्योति तथा आनंद से भरपूर पायेगा। इसकी दृष्टि और अनुभव में जगत सत्यं शिवं सुन्दरम् का स्वरूप होगा। और होगा आनन्द की अभिव्यक्ति, दिव्यता का साकार रूप, सत्य का सामंजस्यपूर्ण क्षेत्र, आत्मा की आनंदमय देह।

———

भीगी आँखें लेकर मैं तेरे पास पहुँचा। समस्या थी— क्यों व्यक्ति जीवन की हर घटना को मुस्कान के साथ ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं ? क्यों वे विचलित हो जाते हैं ? क्यों वे आत्मा को जीवन-स्वामी के रूप में नहीं चुनते। जीवन की बागडोर उसके हाथ में नहीं थमाते। क्यों उसके स्वभाव में अपने स्वभाव को परिवर्तित नहीं करते, उसके आनंद को जीवन तथा कर्मों का आधार नहीं बनाते ?

तूने मुझे धीरे से समझाया। "मनुष्य अपने आपको शरीर समझते हैं। उसकी प्रकृति को अपनी मानते हैं। अतः कष्ट पाते हैं। मरते हैं और जन्मते हैं। जब अपने आपको बाह्य व्यक्तित्व से पृथक् करना सीख लेंगे, ये सुखी होंगे, पृथ्वी पर मुक्त भाव विचरण करेंगे।"

भ्रांत धारणा से बचें

आत्मा का साक्षात्कार अथवा भागवत संकल्प का ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व जो व्यक्ति अपनी बौद्धिक प्रतिभा के कारण मानवता की दिशा को मोड़ देने का प्रयास करते हैं, चाहे वे किसी हद तक सफल भी हो जायें, विज्ञ जनों की दृष्टि में सम्मान के पात्र होने से वंचित ही रहते हैं। यह भी देखने में आया है कि उनके परवर्ती मनीषी उनका खंडन कर उनकी शिक्षा को प्रायः धरती से धो डालते हैं। जब तक हम अपनी आत्मा को सूक्ष्म अहंकार से पृथक् देखने में सफल नहीं होते हमारे हर चुनाव में उसका मिश्रण होता है। अहंकार में भागवत-संकल्प को जानने की क्षमता नहीं होती जो कि सृष्टि को इसके मूल की ओर, एक अखंड आनंदमय अस्तित्व की ओर ले जा रहा है। अतः हम स्वयं भ्रांत पथ के पथिक होते हैं और दूसरों को भी उसी ओर प्रेरित करते हैं।

जब हम समग्र आत्म-ज्ञान में अपनी स्थिति अचल एवं स्थायी बना लेते हैं, हमें सृष्टि के पीछे भागवत संकल्प का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। हम उसे समर्पित रहते हैं। तभी हम मानवता का सही दिशा में पथ-प्रदर्शन करने की योग्यता से संपन्न होते हैं। हमारे द्वारा यह महान कार्य संसिद्ध होना संभव होता है।

मूल मंत्र

अतिमानसिक युग की इस पहली-पहली वेला में, देव मुहूर्त्त के इन पावन प्रारंभिक क्षणों में हम सब मातृ-शिशु हृदय में एक अभीप्सा लेकर, जीवन का एक लक्ष्य निर्धारित कर– प्रभु-सेवा का, मानव-जाति के जीवन-स्तर में उत्थान लाने का– एक ही संकल्प धारण कर, अपनी सब व्यक्तिगत इच्छाओं को आहुति का रूप प्रदान कर, स्वार्थ-भावना से ऊपर उठ कर, सुख-सुविधा, मान-प्रतिष्ठा के भावों को पीछे छोड़ कर अंतर्बलिवेदी के सम्मुख उपस्थित हैं। जिससे कि हम अपनी अभीप्साओं को एक साथ मिलाकर उन्हें अधिक शक्तिशाली एवं प्रभावशाली बना सकें। संसार में भागवत कर्म को आगे बढ़ाने के लिए, आत्मा की दिव्यता में मनुष्य के जीवन का रूपांतर करने के लिए हम आत्मा के द्वारा प्रेरित हैं। इसकी सफलता के पीछे उसकी सुनहरी मोहर है। उसका पथ-प्रदर्शन हमें प्राप्त है। यह कार्य प्रभु का है, सृष्टिकर्त्ता का सर्वजयी संकल्प हमारे साथ है। प्रभु-कृपा स्वयं पथ पर पग संवार रही है। हम देख रहे हैं, हमारी आत्माएँ भीतर प्रसन्न हैं, प्रभु के प्रति आभारी हैं, उन्हें समर्पित हैं। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि उनकी प्रेरणा, उपस्थिति और शक्ति हमें अधिकाधिक प्राप्त हों और हम हर मानव को उस स्तर पर

उठा सकें जहाँ ये वस्तुएँ सुलभ हैं। हम अपने इस लक्ष्य की पूर्ति में तभी सफल होंगे जब हम भागवत-शक्ति के प्रति पूर्ण उद्घाटित, ग्रहणशील, सच्चे तथा सचेतन रहेंगे। सच्चाई और सचेतनता हर कार्य की सिद्धि के लिए मूल मंत्र हैं।

श्रीमाँ के कथनानुसार यही घड़ी है जब उन सब आत्माओं को, जिन्हें हर युग में सत्य के सैनिक कहकर संबोधित किया जाता है, अपने आत्म-बलिदान के लिए उद्यत रहना होगा। कारण, पृथ्वी पर भगवान के राज्य को स्थापित करने के लिए उन्हें अज्ञान की शक्तियों से, जो सत्य की विरोधी हैं और पृथ्वी के वातावरण को अधिकृत किये हैं, पग-पग पर लोहा लेना होगा।

मानव आत्मा मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय इन तीन पुरुषों के पीछे विद्यमान है। हर पुरुष की अपनी प्रकृति है। हमारी सत्ता में इनकी प्र कृति ही कामनाओं को जन्म देती है। जब हम कामनाओं से आच्छादित जीवन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करते हैं तो जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है। हम चराचर को एक अखंड, अद्वितीय पुरुष की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। हमारा व्यवहार सत्य, प्रेम तथा उदारता से भरा होता है। अपने कर्मों में जिन चीजों की हम परवाह करते हैं वे हैं सर्वमंगल, लोक-संग्रह, मानव-मुक्ति और प्रभु-संकल्प की चरितार्थता।

दीर्घायु बनें

जीवन जीने के लिए हमें जिन तत्वों की आवश्यकता है उनमें से प्रसन्नता भी एक है। हमें आंतरिक स्तर पर प्रसन्न रहना चाहिये। इससे हमारी शारीरिक, प्राणिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ सबल बनी रहती हैं। दीर्घायु बनने के लिए हमें मानसिक संतुलन की, एक सबल तथा सशक्त शरीर की आवश्यकता है और उसमें आंतरिक प्रसन्नता, एक ऐसा हर्ष जो बाह्य वस्तुओं, घटनाओं तथा परिस्थितियों पर निर्भर न करे, अनिवार्य स्थिति है।

खिन्न मन में कोई भी सबल विचार, रचनात्मक संकल्प, सफलता का भाव, विजय में विश्वास प्रवेश नहीं करता। खिन्नता में हम अपने आपमें बंद हो जाते हैं। हमारा अहंकार ईर्षा एवं असंतुष्टि से भरी प्रतिक्रियाओं के कारण, निराश होकर अपने चारों ओर दीवारें खड़ी कर लेता है। हमारे अंदर कोई उच्च्च चेतना, उसका प्रकाश, शांति या आनंद प्रवेश नहीं पाता। हम जीवन जीने के सुनहरे सपनों से दूर चले जाते हैं। निराशा के बादल हमारे ऊपर मंडराते हैं। हतोत्साहित हुए जीवन-क्षेत्र को विकसित तथा विस्तारित करने के बजाय उसे समेटने की सोचने लगते हैं। हमारी आत्मा पर घना पर्दा पड़ जाता है। चेतना अंधकार में तिरोहित हो जाती है। प्राणमय

पुरुष नैराश्य में डूबने-उतराने लगता है। शरीर को जड़ता घेर लेती है। हम तमोगुण में डूब जाते हैं। जीवन की धारा अधोमुखी हो जाती है। अतः अगर लगे कि हमारी प्रसन्नता किसी भी कारण से छीनी जा रही है, हमें तुरत सचेतन हो जाना चाहिये। जीवन के हर क्षेत्र का, हर कोने का गहन प्रेक्षण करना चाहिये। अपने विचारों और भावों को पहचानना, उनकी गति को ऊर्ध्वमुखी करना, संकल्प को दृढ़ रखना, हमारा प्रथम कर्तव्य होना चाहिये।

देख रहा हूँ व्यक्ति नयी चेतना के विषय में पूर्ण अचेतन हैं। मानों उन्होंने चादर ओढ़ ली है। इसकी ओर से आँखें मूंद ली हैं। वे भूत काल से चिपके रहना चाहते हैं। पुरानी वस्तुओं से बंधे रहना चाहते हैं, उन्हें अब तक के चले आ रहे मूल्य प्रदान कर संतुष्टि अनुभव करते हैं। कैसे समझाऊँ इन्हें, कैसे इनमें उद्घाटन संभव हो, कैसे ये जागें, कैसे विश्वास करें कि युग बदल गया है, विश्व-विधान में परिवर्तन आ चुका है। एक नयी चेतना पृथ्वी पर अवतरित हुई है। जो संसार को रूपांतरित करने में संलग्न है। मनुष्य का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने में क्रियारत है। श्रीमाताजी के अनुसार– अगर मनुष्य इस महान तथा अभूतपूर्व कार्य में अपना सहयोग प्रदान करें तो यह अत्यंत श्रमसाध्य कर्म सुगम हो सकता है।

पर-निंदा, पर-चर्चा

क्या हमने कभी सोचा है कि जब हम पर-निंदा में उतरते हैं, हमारी सत्ता का कौन सा भाग है जो इसमें रस लेता है ! यह दुर्बलता किस भाग में है ! उस समय हम किस शक्ति के यंत्र होते हैं, हमारा प्रेरक कौन होता है !

हमारी बाह्य सत्ता में हमारा मनोमय पुरुष अपने शुद्ध, सात्विक प्रकाशपूर्ण समत्व आदि गुणों से सम्पन्न स्तर पर निवास करता है। कला, सौंदर्य, सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही उसका विशिष्ट कर्म है। वह निम्न प्रकृति की तुच्छ, निरर्थक, सारहीन वस्तुओं में रस नहीं लेता, और न अपना अमूल्य समय नष्ट करना चाहता है। यह हमारा प्राणिक मन है। विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में एक लंबे समय तक इसकी वृत्तियाँ अधोमुखी होती हैं। पर-चर्चा, पर-निंदा, छिद्रान्वेषण, काली और वीभत्स चीजों के कुरेदने में रस लेना इसका स्वभाव है। और इस प्रकार इन निम्न-स्तरीय वस्तुओं में यह जीवन का एक बहुत बड़ा भाग नष्ट करता है। सत्ता में स्थित ऊर्जा के सीमित कोष को शनैः-शनैः खाली कर देता है।

उस समय हम कितने अचेतन होते हैं ! अचेतनता में बितायी गयी उन घड़ियों का मूल्य कौन चुका सकता है ! अपने आपसे कितने दूर, कितने दूर जीवन के सत्य मे उसके लक्ष्य से हम होते हैं !

जैसे ही हम आंतरिक स्तर पर सचेतन होते हैं, अनुभव जागता है, अनुभूति जीवन्त हो उठती है। चित्त स्थिर होकर एकाग्र हो जाता है। हम अपने आपको एक दिव्य उपस्थिति से घिरा पाते हैं। हमें यह भाव बोधगम्य हो जाता है कि हम आत्मा हैं। अंतर उल्लास से पुलकित हो उठता है। हमारी चेतना, हमारे भाव अंतर्सत्ता से जुड़ जाते हैं और आत्मा का आनंद उनमें प्रवाहित हो उठता है। अंग-प्रत्यंग आंतरिक प्रभाव से प्रभावित, आत्म-सत्य के प्रति उद्घाटित हो जाता है। सारी सत्ता में कहीं कोई अड़चन नहीं, कोई बाधा-विरोध नहीं। आत्म विश्वास रोम-रोम में छलकता है। एक अलौकिक शक्ति हम अपने अंदर अनुभव करते हैं। अंतिम विजय में हमारा निश्चय और अधिक दृढ़ हो जाता है। हमारी स्मृति पुनः परिष्कृत हो जाती है। मैं आत्मा हूँ, मेरा जीवन प्रभु को समर्पित है। "मन्मना भव" अमृत से सना यह सूत्र, आत्मा को आह्लादित कर देता है। हम अपनी वर्तमान मानसिक स्थिति के प्रति पूर्ण सजग हो जाते हैं, कर्तव्य के प्रति सचेतन। हमारे श्रवण पथ से ऊँचे भाव और अर्थ भरे शब्द प्रवेश पाने लगते हैं, 'तेरा हर विचार भगवान की ओर जायेगा, हर कर्म उन्हें प्रकट करेगा, हर चेष्टा आत्म-अभिव्यक्ति होगी।' एक अपूर्व दिव्यता से वातावरण भर उठता है। अंतर गुनगुनाता है– हे आनंदमय ! हे विश्वमूर्त्ते ! मैं आपकी शरण हूँ। "प्रसीद देवेश जगन्ननिवास।"

सिद्धार्थ

हमें सिद्धार्थ के अंदर गौतम उत्पन्न करना है। राजकुमार सिद्धार्थ के अंदर शाक्य मुनि की संभावनाओं को जगाना है, जो उसके हृदय की गहराई में सुप्त, निष्क्रिय पड़ी हैं। राजकुमार सिद्धार्थ के अंदर बुद्ध का आविर्भाव होना ही होगा। सिद्धार्थ को यह करना ही होगा। भीतर बैठे शाक्य मुनि को जीवन का प्रेरक-चालक बनाना होगा। उसके हाथ में जीवन नौका की पतवार थमा देनी होगी। उसी के पथ-प्रदर्शन में प्रगति पथ पर अग्रसर होना होगा। उसे ही जीवन स्वामी के रूप में स्वीकार करना होगा। उसे ही समर्पित रहकर जीवन यापन करना होगा। तभी सिद्धार्थ में बुद्ध जागेगा। उसे परमार्थ लाभ होगा और वह प्रबुद्ध अमिताभ कहलायेगा।

राजकुमार सिद्धार्थ को जब अपने अंदर एक परिवर्तन का आभास हुआ और यह सांसारिक जीवन फीका, नीरस, लगने लगा, जीवन के सब सुख क्षणिक अनुभूत हुए, जगत और जीवन क्षणभंगुर, एक सारहीन प्रवाह प्रतीत हुआ, उनकी सब वृत्तियाँ, विचार और भावनाएं अंतर्मुख होने लगीं। एक उपरामता, उदासीनता उनके मन और हृदय पर छा गयी। संसार की किसी भी वस्तु में न कोई चाव रहा, न प्रसन्नता, न उसकी प्राप्ति की कामना। अपने चारों ओर स्वर्ग के समान वैभवपूर्ण राज महलों

में उन्हें ऐसी कोई वस्तु नजर नहीं आयी जो उनके मन, हृदय के लिए आकर्षण का केंद्र बने। उनका जीवन-प्रवाह मानों गतिहीन। जिसमें किसी ओर प्रवाह नहीं। किसी प्रकार की कोई तरंग नहीं। ऐसी स्थिति में हमारी चेतना अंतर्मुखी हो जाती है। मन सब दिशाओं से सिमटकर अपने अंदर डुबकी लगाता है। वहाँ हृदयेश्वर की शरण ग्रहण करने और समर्पित भाव में, उनके दिव्य चरणों में बैठ जाने में ही श्रेय समझता है।

आध्यात्मिक जीवन के लिए हमारी सत्ता में, प्रथम तैयारी के रूप में हमारी अभीप्सा का यही स्वरूप है। वर्तमान जीवन के प्रति एक असंतुष्टि का होना हमारे अंदर एक आंतरिक मांग होती है। यह आध्यात्मिक क्रांति का लक्षण है।

जब तक मैं आत्म-अज्ञानी था, जीवन अपना समझता था। अपने लिए ही जीता था। उस जीवन का कोई मूल्य नहीं था। अब मैंने भगवान का होकर जीना सीखा है। जीवन उनका, उनके लिए है। वे मेरे साथ हैं। सब कुछ उनकी इच्छा पर निर्भर है। उनकी इच्छा के अनुसार है। मैंने आनंद को चखा है। आत्मा का स्पर्श पाया है। यह आनंद निरपेक्ष है। संसार की किसी वस्तु पर, उसकी प्राप्ति, उसके संयोग पर निर्भर नहीं करता। भगवान का होकर जीवन यापन करना उच्च बुद्धिमत्ता है। यह जीवन को सही अर्थवत्ता प्रदान करता है।

आधुनिक युग

आधुनिक काल के इस वर्त्तमान उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए युगान्तर में, इस संक्रमण-काल में भौतिक विज्ञान अपने अनुसंधानों का दिन-दूना विस्तार कर रहा है और प्रकृति के गुप्त रहस्यों का ज्ञान उपार्जन कर, उसकी शक्तियों को मानव-जाति की सेवा के लिए संभव बना रहा है। दूसरे शब्दों में कल तक जो सब मानव मन को असंभव प्रतीत होता था, उसे संभव कर रहा है। ऐसे समय में यह स्वाभाविक ही है कि उन मनुष्यों का झुकाव उसकी ओर बढ़े, वे उसके प्रति आकृष्ट हो जायें जो बहिर्मुखी वृत्ति को आगे रख कर जीवन मार्गों पर चलते हैं और उनका मन उन सब स्तरों और क्षेत्रों से वापिस खिंच आये जहाँ उसने दीर्घ काल से आज तक पूर्ण आशा के साथ अपनी, व्यक्तिगत तथा जातिगत सभी वर्त्तमान और भावी समस्याओं का समाधान पाने की आशा की थी।

भौतिक विज्ञान की इन चमत्कारमयी देनों को देखकर जीवन की सब सुविधाओं को अति सुगमता से प्राप्त हुआ पाकर, जीवन की प्रायः सभी समस्याओं का सर्व सुलभ हल लखकर मानव अपनी चेतना को धीरे-धीरे आध्यात्मिक और गुह्य सत्यों की ओर से हटा कर, भौतिकता की ओर मोड़ रहा है। जहाँ वह जीवन की सब भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक

समस्याओं का हल आत्मा के उच्च स्तरों पर अपनी सत्ता की गहनतम गहराइयों में खोजने का प्रयास किया करता था, वहाँ आज वह भौतिक विज्ञान की शक्ति तथा सामर्थ्य में खोज रहा है। मानव जाति की उच्च, शिक्षत श्रेणियों में आध्यात्मिकता की ओर झुकाव न होना, अतिभौतिक स्तरों और जगतों के अस्तित्व में अश्रद्धा उत्पन्न होना, पुनर्जन्म में विश्वास न रखकर वर्तमान को ही सब कुछ समझना आदि जो प्रवृत्तियाँ हैं, इनके पनपने का, मानव मन को इनके द्वारा अधिकृत होने का एक कारण विज्ञान की कल्पनातीत उपलब्धियाँ भी हो सकती हैं।

जीवन में कुछ घटनाएँ ऐसी आती हैं जिनके लिए हम शोकग्रस्त और मोहग्रस्त हो जाते हैं। उस समय कोई हमें कितना भी समझाये, कितना भी ऊँचा ज्ञान प्रदान करे, हमारी समझ में कुछ नहीं आता। हमारा हृदय शोक और मोह से इतना अधिकृत हो जाता है कि वहाँ किसी भी चीज के लिए कोई स्थान, किसी भी परिवर्तन के लिए कोई संभावना नहीं रहती। क्या हमने कभी सोचा है कि जिस चीज के लिए हम शोक कर रहे हैं उसकी प्राप्ति की सिद्धि में हमारे शोक और मोह क्या कुछ सहायता कर सकेंगे ? विचारशीलता ही मनुष्यत्व है। विवेक-रूपी सीढ़ी से हम उच्चतम बोध में उठ सकते हैं। मुक्त-चेतना में अपना निवास संभव बना सकते हैं।

सत्संग

यह संसार अपनी रचना में अद्भुत है। परम पिता परमात्मा की इस रहस्यमयी लीला का सही-सही ज्ञान प्राप्त करना महान ऋषि-मुनियों के लिए भी कठिन होता है। वे कब, किसके द्वारा, क्या कराना चाहते हैं, संसार को किस दिशा में मोड़ना चाहते हैं, इसका ज्ञान मानव-बुद्धि की पहुँच के परे है। यह विराट् जगत, यह असीम ब्रह्माण्ड उन्हीं का स्वरूप है। चराचर उन्हीं की रचना है। प्राणी मात्र के अन्दर वे ही विराजते हैं। सब ओर, सब घटनाओं में उन्हीं का संकल्प चरितार्थ हो रहा है। अतः हमें चाहिये कि हम जो हैं, जैसे हैं, जो कुछ विद्या-बुद्धि, धन हमारे पास है, अपनी समस्त क्षमता और योग्यताओं के साथ, अपना सर्वस्व परम पिता के चरण-कमलों में समर्पित करें। उन्हीं के होकर उनके लिए जियें। हमें उचित है कि प्रत्येक प्राणी के साथ व्यवहार करते समय यह कदापि न भूलें कि उसके हृदय में भगवान विराजमान हैं और वस्तुतः हम उन्हीं के साथ व्यवहार कर रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें सबकी भलाई, सबका मंगल, सुख और हित की चिन्ता व कामना करते हुए इस जगत में, जब तक प्रभु जीवन-यापन करने की अनुमति प्रदान करें, तब तक अपने कर्तव्य का पालन करते हुए निष्काम भाव से, अपनी योग्यता के अनुसार मानव मात्र की सेवा करते रहें। हमें इस रहस्य के प्रति

सचेतन बन जाना चाहिये कि जब हम किसी प्राणी को सुख पहुँचाते हैं– उसका हित, उसकी आत्मा की उन्नति चाहते हैं तो उसके हृदय में विराजमान श्रीहरि हमारे ऊपर प्रसन्न होते हैं। यही वे मधुमय क्षण होते हैं, जब वे अपनी कृपा का वर्षण करते हैं और हमें अपने स्वर्गादिक लोकों से भी उच्च, देव-दुर्लभ, दिव्य धामों को, उच्च चेतनाओं को प्राप्त कराने वाले आशीर्वादों में डुबा देते हैं। इस त्रिलोक में सबसे बड़ा धर्म दूसरों को आत्मिक सुख प्रदान करना, आत्म-उपलब्धि के पथ पर उनकी सहायता करना है। सबसे महान कर्म जगत को आध्यात्मिक रूपांतर के लिए तैयार करना, मानव मात्र को आध्यात्मिक चेतना में उठाने का प्रयास करना है। जो मनुष्य शरीर को ही अपना संपूर्ण व्यक्तित्व समझते हैं, इन्द्रियों के सुख-भोगों को एकत्र करने या भोगने में ही व्यस्त रहते हैं, इसे ही मानव जीवन समझते हैं और भोगों की अधिकता में ही, धनादि के अधिक संग्रह में ही, जीवन की सार्थकता समझते हैं वे ही जन्म-मरण के अन्तहीन दुखद चक्र में घूमते हैं और तब तक घूमते रहेंगे जब तक वर्त्तमान स्तर का त्याग कर एक उच्च दिव्य चेतना स्तर पर निवास करना उनका स्वभाव नहीं बन जाता है।

शास्त्रों के अनुसार, इन क्षण-भंगुर असार रूपों में केवल एक आत्म तत्व ही सद्वस्तु है। वही नित्य और स्थायी है। शेष सब कुछ आज नहीं तो कल नष्ट होना है। प्रभु ही हमारे अपने हैं,

एक मात्र संगी और सखा हैं। बाकी सब आज नहीं तो कल बिछुड़ने वाले हैं। वर्षा के जल प्रवाह में जैसे कहीं के बालू के कण कहीं दूसरी जगह के बालू-कणों से जाकर मिल जाते हैं, वैसे ही काल प्रवाह के कारण ये भूत प्राणी इस जन्म में इस परिवार में और दूसरे जन्म में दूसरे परिवार में जन्म लेकर कभी किसी के पिता-पुत्र, भाई-बन्धु बनते हैं और कभी किसी अन्य के। अतः विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह परिवार में आसक्त न होकर, यह जीवन जिससे प्राप्त हुआ है, जिसके कारण और जिसकी कृपा से चल रहा है उसे स्मरण रखते हुए, उसी को लक्ष्य बनाकर, मनसा-वाचा-कर्मणा, उसी का भजन करता हुआ, विषय-वासना से दूर रहता हुआ जब तक जीवन का आत्म-साक्षात्कार रूपी लक्ष्य प्राप्त न हो, तब तक भगवद्अर्पित बुद्धि को आगे कर जीवन मार्गों पर अग्रसर रहे।

हमें चाहिये कि जीवन का मूल्य समझें। श्रेष्ठ वेदोक्त कर्मों का आचरण करते हुए आत्मा का उद्धार करें और अपने चारों ओर मोह-ग्रस्त प्राणियों की आत्म-उन्नति में सहायक बनें। यह पृथ्वी पर शास्त्रोक्त मानव-तन में भगवान की सबसे बड़ी सेवा है। स्वयं जागें और दूसरों को जगायें।

मनुष्य

मनुष्य एक अद्भुत रचना है। अपनी रचना में यह एक ओर असहाय-सा, दुर्बल-सा, प्र कृति के हाथ का खिलौना-सा प्रतीत होता है, और दूसरी ओर सर्व संभावनाओं के साथ भगवान इसके हृदय में गुप्त रूप से विराजमान हैं। इसका हृदय एक ऐसी अंधकार की गुफा है जिसमें अमर ज्योति छिपी है। यह एक ऐसा अज्ञान का पुतला है जिसमें सर्वज्ञ चेतना का केन्द्र है। यह एक ऐसा दुखों का घर है जिसमें आनंदमय सत्ता निवास करती है। एक क्षणभंगुर, नाशवान मिट्टी का ढाँचा है जिसमें सच्चिदानंद का, शाश्वत शिशु का वास है। यह मानव है, इसे ही शास्त्रों में पशु से ऊपर और देवताओं से नीचे गिना गया है। इसे दुर्बल मानना अज्ञान होगा, शक्तिमान कहना भूल होगी। अज्ञानी कहना सत्य से दूर जाना है, ज्ञानी कहना उससे भी दूर। यह दुखी नहीं है किन्तु आनन्द इसे प्राप्त नहीं है। यह अंधकार में नहीं है किन्तु ज्योति से दूर है। यह असहाय, दयनीय इसीलिए है कि यह अपने उद्‌गम से युक्त नहीं है। यह अपने सूर्य की बिछुड़ी हुई एक ऐसी किरण है जो अपनी आंतरिक सत्ता में हर समय उसके साथ जुड़ी है। यह बेचारा है क्योंकि जो यह वास्तव में है, वह यह नहीं हो पा रहा है। यह दीन है, लेकिन केवल तब तक, जब तक यह आत्म-अज्ञान रूपी स्वप्न में है। स्वप्न टूटते ही यह स्वराट् है, सम्राट् है।

कर्मफल

हमारे बाह्य जीवन का स्वरूप, हमारी परिस्थिति जिसमें हम जन्म लेते हैं– देश, धर्म, वर्ण, माता-पिता, क्षेत्र, व्यापार आदि हमारी आत्मा अर्थात् हमारे चैत्य पुरुष के चुनाव पर निर्भर करते हैं। निस्संदेह हम यहाँ उनकी चर्चा कर रहे हैं जिनकी सत्ता में चैत्य पुरुष प्रेरक और चालक के रूप में सामने आ जाता है। जन-सामान्य की सब व्यवस्था प्रकृति के द्वारा की जाती है।

चैत्य-पुरुष जानता है कि उसके वर्तमान जीवन का क्या लक्ष्य है ? इस विषय में वह पर्याप्त सचेतन है। अपने लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए वह परिस्थिति का चुनाव करता है। प्रायः उसका चुनाव निर्भ्रांत होता है। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है जहाँ वह कुछ भूल कर बैठता है। ऐसा तब होता है जब वह किसी आदर्शमय वातावरण के प्रति अत्यधिक आकर्षित हो जाता है अथवा धरती पर अवतरित होने की शीघ्रता अनुभव करता है। दूसरा कारण प्रायः तब संभाव्य होता है जब कोई महापुरुष अथवा अवतार पृथ्वी पर हो अथवा किसी महान क्रांति का समय समीप आ गया हो और चैत्य पुरुष अभी धरती पर ही अपने पुराने शरीर में हो। यह क्रांति किसी भी क्षेत्र में हो सकती है– विज्ञान, राजनीति, धर्म, दर्शन आदि। तब यह पहले शरीर को त्यागने में और नये शरीर को धारण करने में शीघ्रता करता है।

जीवन में सभी कुछ कर्मफल नहीं है। हमारा जीवन भूतकाल के कर्मों का परिणाम मात्र नहीं है। मेरी भौतिक सत्ता, मेरी चेतना, मेरे चारों ओर की परिस्थिति, घटनाएँ– इनका कारण भूतकाल के जन्मों में किये हुए मेरे कर्मों का फल नहीं है। अगर ऐसा हो तो विकास कभी आगे नहीं बढ़ सकता। अगर पिछले जन्म के संस्कारों की अभिव्यक्ति ही मेरा वर्तमान जीवन है और इसके फलस्वरूप मेरा अगला जन्म होगा, तो इस प्रकार मैं कभी इस लीक से बाहर नहीं आ सकूंगा।

हमारे जीवन का प्रायः पचास प्रतिशत भाग हमारे भूत काल के कर्मफल से प्रभावित होता है। शेष हमारे इस जीवन के लक्ष्य को दृष्टिकोण में रखते हुए व्यवस्थित किया जाता है। सभी घटनाएँ कर्मों के फल के रूप में घटित नहीं होतीं। कितनी ही हमारे चैत्य पुरुष के द्वारा स्वीकृत अथवा अपनायी हुई भी होती हैं। वह इनको स्वयं चुनता है। चैत्य पुरुष वह सब व्यवस्थित करता है जो हमारे आत्म-विकास में अनिवार्य होता है। चाहे हमें वह सुखकर प्रतीत हो या कष्टकर। उसकी दृष्टि सदा आत्म-विकास पर टिकी होती है, हमारे सुख-दुख पर नहीं। आत्म-विकास के मार्ग में सुख-दुख का स्थान, इनकी गणना अति तुच्छ है।

महापुरुषों के जीवन में जो कष्टपूर्ण, संकटापन्न, भयंकर परिस्थितियाँ आती हैं, जिनमें उन्हें भीषण यंत्रणाओं में से

गुजरना होता है, उनके कर्मफल के कारण नहीं होती। इनके पीछे चैत्य-चुनाव होता है। चैत्य-पुरुष के स्वभाव में प्रकृति की हर चुनौती को स्वीकार करने की एक जोशीली दिव्य प्रवृत्ति होती है। उच्चतम आदर्श अथवा श्रेष्ठतम सिद्धांत स्थापित करने के लिए वह सब प्रकार का बलिदान करने को, यंत्रणाएँ सहने को सदा उद्यत रहता है। चैत्य पुरुष विश्व-प्रकृति की शक्तियों से कभी हार नहीं मानता। उनके सामने झुकता नहीं। जिस जीवन में त्याग नहीं, तप नहीं बलिदान नहीं, आदर्श नहीं, सर्वोच्च उपलब्धि के लिए संघर्ष नहीं, किसी अज्ञात वस्तु, अप्राप्य तत्व की खोज नहीं, उसे वह जीवन नहीं समझता।

अगर सभी कुछ कर्म फल है तो त्याग, तपस्या, बलिदान आदि शब्द निरर्थक रहेंगे। आत्म-संकल्प, चुनाव, निर्णय तथा भागवत कृपा के हस्तक्षेप का कोई अर्थ नहीं होगा। इनके लिए कोई स्थान नहीं रहेगा।

समर्पण के भाव में हम अपनी आत्मा के साथ समस्वर रहते हैं, वह हमारे द्वारा हमारे जीवन में, हमारे विचारों तथा कर्मों में प्रवाहित होती है। संसार के उत्थान के कार्य में हम परमेश्वर के द्वारा चुन लिये जाते हैं। समर्पण की स्थिति व्यक्ति तथा अंतस्थ आत्मा के मध्य सेतु रूप होती है।

हृत्प्रदेश

उस सुरंग में मैंने प्रवेश संभव बनाया जिसका प्रथम द्वार हमारे हृदय में है और दूसरा उस नीरवता में खुलता है जो ज्योतिर्मय है। यह नीरवता योगी को माँ की गोद के समान मधुर तथा आनंददायक अनुभव होती है। पिता के स्पर्श के समान सुखदायी तथा सुहावनी लगती है। दो आत्माओं के मिलन के आनंद के समान यह सदा हर्षोत्पादक, नयी चेतना तथा प्रेरणाओं से भरपूर होती है।

उस नीरवता में मुझे उनकी याद आयी जिन्होंने एक दीर्घ एवं महान पुरुषार्थ के द्वारा, त्याग-तपस्या के द्वारा यह स्थिति प्राप्त की। अपना आसन वहाँ स्थिर किया। कितना दूर है वह आभामय नील नभ संसार के कोलाहल से। खोखली कामनाओं की पूर्त्ति हेतु भाग-दौड़ तथा भटकन से। कितना उन्होंने चिन्तन किया, कितना श्रम। कितना धैर्य रखा, कितना संयम। कितनी निराशा की घड़ियों में से गुजरे। कितनी रातें जागरण में बितायीं। अहं को मिटाया। इंद्रियों पर विजय पायी। मन शांत किया, चित्त शुद्ध। तब पर्दा हटा और उन्हें आत्मा का बोध हुआ। वे भ्रम से बाहर आये। भ्रम, जिसमें संसार डूबा हुआ है और शरीर रूपी पिंजरे को अपना आप समझता है।

आवरण-हीन हृदय में जगमगाती जीवंत प्रभु-मूर्ति का दर्शन-सुख वर्णनातीत है।
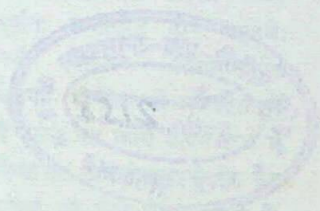
व्यक्ति और उसका जीवन पूर्णतः रूपांतरित होने चाहियें। नयी चेतना– अतिमानसिक चेतना– जो विश्व में अवतरित हुई है उसने यह कार्य अपने हाथ में लिया है। अब देखना है कि वह मनुष्य को कैसे तैयार करती है, कैसे उसे जगाती है, कैसे उसमें रूपांतर के लिए अभीप्सा उत्पन्न करती है। कुछ भी हो, यह होगा अवश्य। श्रीअरविंद अपने अनुभव-सिद्ध कथन में मनुष्य और उसके जीवन का आत्मा की दिव्यता में रूपांतरण एक अवश्यंभावी प्रकरण मानते हैं।

— सुखवीर आर्य

एक उच्च, नये प्रकार का, नये तत्वों पर आधारित आध्यात्मिक जीवन यापन करने में सहायक कुछ नये ग्रन्थ —

शास्त्रों की दृष्टि में जीवन क्या है, किस लिए है, उसका स्वरूप कैसा होना चाहिये, सच्ची सफलता किसे कहते हैं, वह कैसे प्राप्त होती है, इसी का उत्तर है– 'दिव्य जीवन की ओर'। जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार को लक्ष्य रूप में चुना, किन्तु किन्हीं कारणों से, वे चाहे आंतरिक हों या बाह्य, मार्ग तय नहीं कर सके, जो चेतना के उच्च तथा निम्न स्तर के मध्य संघर्षरत हैं, जिनकी सत्ता में मिश्रण है, गति पूर्णतः ऊर्ध्वमुखी नहीं हुई ; स्वार्थ, लोभ, मोह तथा भोगों की अंधकार भरी राहों पर भटक रहे हैं ; उनके लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। मूल्य : ४० रुपये। (अंग्रेजी में भी उपलब्ध)

मानव-जीवन का लक्ष्य, उसकी प्राप्ति के साधन, मानसिक चेतना का अतिक्रमण अर्थात् मानव का अतिमानव में उत्थान, इसकी प्रक्रिया, इसके स्वरूप का विवरण है– 'अतिमानस की ओर'। मूल्य : ५० रुपये।

आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् आत्मा की परिपूर्णता का प्रवाह जीवन में संभव है। आत्मा की दिव्यता में मानव-सत्ता तथा जीवन का रूपान्तरण, उसका दिव्यीकरण अब एक प्रसंभावना ही नहीं वरन् संसार की भावी नियति है, पृथ्वी-तल पर एक अवश्यंभावी घटना है। इसी की चर्चा है 'रूपान्तर की ओर '। मूल्य : ५० रुपये।

प्राप्ति स्थान : **SABDA**, श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी – २

२. श्रीअरविन्द आश्रम, श्रीअरविन्द मार्ग, नई दिल्ली –११००१६

३. श्रीअरविन्द चेतना समाज,६५६२/९ चमेलियन रोड, दिल्ली–६